संक्षिप्त बिहारी

(सटीक)

लेखक

श्रीरमाशंकरप्रसाद, एम० ए०, एल-एल० बी०

प्राक्कथन-लेखक

डाक्टर श्रीबेनीप्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी०,
डी० एस-सी० (लंदन)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२९

मूल्य १॥)

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press,
Ltd., Allahabad.

श्याम राम रति में पगे, तुलसी सूर निहाल।
बूड़े रस शृंगार में, चतुर बिहारीलाल॥

निवेदन

काव्यमर्मज्ञ तथा शिक्षित-समाज में महाकवि विहारीलाल का बड़ा ही मान[1] है। रस[2]-प्रेमियों के हृदय में उन्होंने अपना अटल स्थान बना रक्खा है। अतः पाठकवृन्द की सुविधा के लिए अनेक कवियों और लेखकों ने टीकाएँ और टिप्पणियां भी जड़ी हैं, जिससे "सतसई" के पढ़ने और समझने में बड़ी सुगमता होगई है और बहुत सी शिक्षा-समितियों ने विद्यार्थियों के लिए निर्दिष्ट पुस्तकों में इसका भी नाम रख दिया है। अतएव इसका पढ़ाया जाना अनुभवी शिक्षकों ने आवश्यक समझा है। परन्तु अध्यापकों को एक बड़ी कठिनाई पड़ रही है। प्रसिद्ध बात है कि "विहारी बड़े ही शृंगारी थे" और शृंगार रस के कवियों में इनका पद सर्वोच्च है। स्थान स्थान पर इनके दोहों में ऐसी बातें आ जाती हैं जिनका स्पष्ट रूप से वर्णन करने में बड़ी हिचकिचाहट होती है। कहीं कहीं ऐसे पद लिखे हैं जो अविवाहित पाठकों के लिए दुर्बोध्य हैं। कतिपय दोहों का पठन

१—कवि ने कहा भी है—

"उदय अस्त लौं अवनि पै, सबको याकी चाह।
सुनत बिहारीसतसई, सबही करत सराह॥"

२—कवि स्वयं कहता है—

"जो कोऊ रस-रीति को, समुझो चाहै सार।
पढ़ै बिहारीसतसई, कविता को शृंगार॥
"विविध नायिका-भेद अरु, अलङ्कार नृपनीति।
पढ़ै बिहारीसतसई, जानै कविरस-रीति"॥

करना बालक-बालिकाओं के लिए असामयिक हो जाता है जिससे उनके आचार-विचार पर अस्पृहणीय प्रभाव पड़ने की अधिक आशंका रहती है। प्रेमिका-संबंधी बातें इतनी स्पष्टता से दिखलाई गई हैं कि उनका पढ़ना अनेक पाठकों को हानिकारक हो सकता है। ऐसी दशा में यह विचार किया गया कि सतसई का एक ऐसा संक्षिप्त संस्करण निकालना आवश्यक है जो विद्यार्थी तथा अन्य पाठक-समाज को श्रृंगार की अश्लीलता से दूर रखते हुए भी उनको उसके सुखप्रद और हितकर रस अथवा बिहारीलाल के भाषा-माधुर्य और काव्य-सौंदर्य के आनन्द से वंचित न करे। लेखक का आश्चर्यजनक साहस केवल इसी कारण से क्षम्य होने की आशा रखता है।

टीकाकार सबसे पहले श्रीमान् डाक्टर बेनीप्रसाद, रायबहादुर लाला सीताराम और श्रीयुत पंडित देवीप्रसाद शुक्ल को कोटिशः धन्यवाद देता है जिनकी आज्ञा, सहानुभूति और सहायता से यह संस्करण तैयार हुआ, तत्पश्चात् बँगला के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत बाबू ज्ञानेन्द्रमोहनदास को, जिनकी सहायता बिना यह पुस्तक अधूरी ही रह जाती, धन्यवाद देना उचित है। फिर सुकवि श्रीयुत प० गिरिजादत्त शुक्ल (गिरीश) ने इस पुस्तक का प्रूफ संशोधन करके टीकाकार को अशेष कृतज्ञ किया है। अंत में बिहारीलाल के आज तक के टीकाकारों तथा समालोचकों का कृतज्ञ होकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों अथवा अन्य साहित्य-प्रेमियों को बार-बार धन्यवाद देता हुआ वर्तमान लेखक इस पुस्तक को विद्यार्थी-समाज और अन्य भाषा-प्रेमियों को अर्पण करता है।

रमाशंकरप्रसाद

श्रीप्रयाग
पौष संवत १९८५ वि०

प्राक्कथन

पं० रमाशंकर एम० ए०, एल-एल० बी० ने इस ग्रन्थ में विद्यार्थियों और सर्वसाधारण के लिए बिहारी के चुने हुए दोहों की व्याख्या की है। भूमिका में उन्होंने बिहारी के जीवन और काव्य-कौशल के विषय में आवश्यक बातें कह दी हैं। उनको दोहराने की कोई ज़रूरत नहीं है। पं० रमाशंकरजी ने इस रचना में इतना परिश्रम किया है कि आशा है यह आज-कल के हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान ग्रहण करेगी।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कई युग दृष्टिगोचर होते हैं। १५-१६ वीं शताब्दी में कबीर, नानक, रैदास इत्यादि महात्माओं ने एक परमेश्वर की भक्ति का उपदेश दिया, तत्कालीन कुरीतियों का खंडन किया और समाज-सुधार की चेष्टा की। उन्होंने भाषा को वह रूप दिया जो अब तक बना हुआ है। उनके बाद हिन्दी-साहित्य में दो विशेष परिवर्तन हुए। एक तो भक्तिमार्ग का रूप बदल गया। निराकार की उपासना जनता के मन को न भायी। उसके स्थान पर साकार की उपासना का ही उपदेश फिर प्रारंभ हुआ। एक परमेश्वर का सिद्धान्त भी सर्वसाधारण को अभी ग्राह्य न था। राम या कृष्ण या शिव को परमात्मा मानते हुए भी वह विश्वास करते थे कि और देवी देवता हैं। कबीर के चलाये हुए धार्मिक आन्दोलन का स्थायी साधारण प्रभाव इतना ही पड़ा कि एक देव को मुख्य मान कर उपासना होती थी और शेष देवी-देवता गौण रहते थे। धार्मिक भाव के इस रूप का प्रतिबिम्ब सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास आदि महाकवियों में है। भक्ति के आवेश में बहुधा

शृंगार-भाव आ जाता है। तुलसीदास में तो यह बात नहीं है पर योरप, फ़ारस, और हिन्दुस्तान के भक्तों की रचनाएँ प्रायः शृंगाररस में डूबी हुई हैं। भक्त अपने देवता से शृंगारी का सा प्रेम करता है। उदाहरणार्थ, फ़ारसी के कवि जलालुद्दीन में भक्ति और शृंगार बिलकुल मिल गये हैं। हिन्दी में सूरदास में यही बात है। १६-१७ वीं शताब्दी की हिन्दी कविता का यही प्रधान लक्षण है।

पर १७ वीं शताब्दी के उत्तर भाग में यह अवस्था बदलने लगी। भक्तिमार्ग का बल कम होने लगा। कबीर या सूरदास के-से भाव साहित्य से दूर होने लगे। कविता से भक्ति लगभग लोप हो गई; केवल शृंगार रह गया। पहले शृंगार भक्ति में मिला हुआ था। अब वह अकेला ही रह गया। अठारहवीं शताब्दी की हिन्दी कविता प्रायः कोरी शृंगार की कविता है। इसमें वह उच्च भाव नहीं है, वह नैतिक बल नहीं है, जो हमारे पहले के साहित्य में, उदाहरणार्थ, जो तुलसी और सूर में है। अठारहवीं शताब्दी में यह बात और भी बढ़ गई। अठारहवीं शताब्दी में और एक प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य सदा जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। जब राष्ट्रीयजीवन महान् आशाओं और आकांक्षाओं से परिपूर्ण होता है, जब राष्ट्र में उन्नति होती रहती है तब राष्ट्रीय साहित्य भी तरह तरह के विचारों और भावों से भरा पूरा रहता है। जब राष्ट्रीय जीवन आदर्शों से गिर जाता है और अवनति के मार्ग पर चलता है तब साहित्य भी सारहीन हो जाता है। अठारहवीं शताब्दी देश के इतिहास का अन्धकार काल है। राजनीति में यह पराजय का समय है। समाज में संकीर्णता का काल है। उद्योग-व्यापार का नाश इसी समय हुआ। इस समय की ललित कलायें गौरव से शून्य हैं। इस समय के भवन न तो हिन्दू मन्दिरों की और न आगरा सीकरी देहली इत्यादि की

मुसलमानी इमारतों की समता कर सकते हैं। इस काल की चित्रकारी जहाँगीर और शाहजहाँ के चित्रों से बिलकुल न्यारी है। साहित्य भी प्रायः निर्जीव है; भाव और विचार उड़ गये हैं, कोरा शब्द-विन्यास रह गया है। जो दो चार प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न भी हुए तो वह समय के प्रभाव से एक संकीर्ण क्षेत्र में ही विचरते रहे। इस अवस्था का प्रारम्भ १७ वीं शताब्दी के उत्तर भाग से होता है। विहारी की प्रतिभा भी इसके प्रभाव से नहीं बची है। कई वर्तमान लेखकों ने विहारी को हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में रक्खा है। पर यह अन्य कवियों के साथ अन्याय है, कविता पर बलात्कार है। विहारी का क्षेत्र इतना संकुचित है, विचारों का इतना दौर्वल्य है, उसकी स्वाभाविक प्रतिभा कृत्रिम नियमों के नीचे ऐसी दब गई है कि वह साहित्य में इतना ऊँचा स्थान नहीं पा सकता। तथापि उसने भाषा पर ऐसा अधिकार दिखाया है, शब्द-विन्यास में उसे ऐसा कौशल प्राप्त है, उसमें संक्षेप में बहुत से भाव प्रकट करने की ऐसी प्रतिभा है कि विहारी का पठन-पाठन बराबर जारी रहेगा। बूढ़े और जवान सबही विहारी के साहित्यिक चमत्कार से आकृष्ट होंगे। इसलिए एक संस्करण की आवश्यकता थी जिसमें विहारी के गुणों का पूरा प्रतिबिम्ब हो पर उसका अनौचित्य न हो। पं० रमाशंकरजी ने इस आवश्यकता को पूरा करने का उद्योग किया है। उन्होंने विहारी के संकलित पाठ को सर्वथा सुगम्य और सर्वांग-सुन्दर बनाया है। विहारी के वर्तमान पाठों में से उत्तम पाठ छाँटकर उन्होंने दिया है। पर टिप्पणियों में भिन्न पाठ भी दे दिये हैं इससे विद्यार्थियों और अध्यापकों को तथा अन्य पाठकों को पाठ पर अपनी सम्मति स्थिर करने का अवसर मिलेगा। विहारी के दोहों का अर्थ सुगम्य सरल भाषा में दिया गया है। पं० रमाशंकरजी की विस्तृत भूमिका विशेषतः उपयोगी होगी, इसमें

उन्होंने ऐतिहासिक और वैज्ञानिक रीति से विहारी के समय और कार्य की समीक्षा की है। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में समालोचना का प्रारंभ अभी हुआ है। इस कार्य में रमाशंकरजी ने प्रशंसनीय योग दिया है। आशा है, उनका परिश्रम सफल होगा।

वेनीप्रसाद

यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद।
११-१-२६

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्ट

संकेताक्षर

इ०	=	इत्यादि
दे०	=	देखिए
दो०	=	दोहा
पा०	=	पाठांतर
पृ०	=	पृष्ठ
सं०	=	संख्या

——

संक्षिप्त बिहारी

अवतरणिका

हिन्दी भाषा के अन्य अनेक कवियों के सदृश महाकवि बिहारी-लाल के भी जीवन-काल का निश्चित परिचय नहीं दिया जा सकता। इनके रचित एक[1] आध दोहों और कुछ इधर-उधर लोगों के मौखिक कथनों के आधार पर तर्क और अनुमान

---

[1] अक्तूबर सन् १९२६ की "सरस्वती" में किसी महाशय ने 'बिहारी-विहार' नामक पचास दोहों का एक संग्रह निकाला था। दोहों के पढ़ने से ज्ञात नहीं होता कि उनका लेखक सतसई-निर्माण-कर्त्ता हो सकता है। अतः उन दोहों के आधार पर बिहारीलाल की जीवनी तैयार करना ठीक नहीं जान पड़ता, किन्तु यदि उनको बिहारी की कविता मान लें तो उनके जीवन का वृत्तांत, जो अब तक अंधकार में पड़ा है, प्रकशित हो जायगा। उन दोहों से निम्न-लिखित बातें मालूम होती हैं।

पितामहः—वसुदेव जू, पिता केशवदेव, गांव मधुपुरी,

जातिः—ब्राह्मण, चौबे, माथुर (छःघरा) ककोर, इनके पुत्र कृष्णा

जन्मः—"संवत् जुग शर रस सहित भूमि रीति गिन लीन्ह
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं विधि दीन्ह" (१६५४ सं०)

शिक्षाः—वृंदावन में नागरी दास के यहां जाकर
"विद्या काव्य अनेक बिधि पढ़ी परम सचुपाय"
और "गान ताल सब सीखियो जपत रहें हरि नाम"
"निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्ही बहु भांति"

के सहारे इनकी जीवनी लिखी जाती है—एनसाइक्लोपीडिया, ब्रिटैनिका (Encyclopædia Britannica) **में लिखा है कि** "Little is known of the author beyond what he himself tells us" **(जो कुछ वह स्वयं कहता है उसके अतिरिक्त कवि के संबंध में प्रायः कुछ नहीं ज्ञात है)—इसलिए इस विषय पर वाद-विवाद[१] न करके जो कुछ मालूम है अथवा अनुमान किया जा सकता है वही लिखा जायगा।**

एक समय जयसिंह वहां गये और इनसे बहुत प्रसन्न हुए, तथा उन्होंने इन्हें अर्गलपुर में बुलाया। ये आगरे के क़िले में "बहु काल" रहे, वहां फ़ारसी इत्यादि पढ़ी। शाहजहां ने जयसिंह को शाह की पदवी दी और इनको बहुत इनाम दिया। आमेर में जयसिंह नवोढा रानी पर आसक्त थे। वहां सेज पर प्रसिद्ध दोहा रख के इन्होंने उनको आसक्ति से निकाला, फिर उनकी आज्ञा से सतसई रची। हर एक दोहे पर एक एक मुहर पायी, "चारि पाख के मांझ में कविता कों रचि दीन्ह", फिर घर आए, तब "डोरी लागी प्रेम की वृन्दावन के मांहि।" वहीं जीवन समाप्त हुआ, अनेक राजाओं के लिए कविताएँ बनाईं।

तब—

"कविता सों मन हटि गयौ लगौ कान्ह सों ध्यान।
लाल बिहारी ह्वै गये दास बिहारी मान"॥

और फिर कृष्ण का नाम जपने लगे, इस बिहारी-विहार की तिथि भी दी है

"संवत छिति अंबक जलधि शशि मधु मास बखान।
शुक्र पक्ष की सप्तमी सोमवार शुभ जान"॥ (१६२१ सं०)

१ बिहारीलाल के संबंध में बहुत अधिक मत-भेद है, भिन्न भिन्न स्थानों में वे ब्रह्मभट्ट, माथुर ब्राह्मण, सनाढ्य मिश्र, कान्यकुब्ज और राय कहे गये हैं, कुछ लोग इनके पिता का नाम रामचन्द्रिका-प्रणेता महाकवि केशवदास बतलाते हैं, कुछ लोग कृष्णकवि को इनका पुत्र कहते हैं। इनके जीवन-चरित्र

कवि की जीवनी

विहारीलाल का जन्म सं० १६६० वि० के लगभग ग्वालियर के समीप वसुआ-गोविंदपुर के एक उच्च माथुर ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था। किसी अज्ञात कारण—संभवतः पिता की निर्धनता और असामयिक मृत्यु—से इन्होंने अपनी बाल्यावस्था बुन्देलखंड में, जहाँ शायद इनका ननिहाल था, व्यतीत की। तत्पश्चात् विवाह हो जाने पर इन्होंने अपनी सारी उम्र स्त्री के घर, मथुरा में, विताई। आमेर के महाराज जयसिंह[1] (मिरज़ा राजा जयसिंह,

---

के संबंध में भी एकता नहीं, इनका जन्मस्थान, बुंदेलखंड रहना, मथुरा में ससुराल होना और वहां वस जाना, जोधपुर में जाना, इन सब बातों पर बहुधा वाद-विवाद हुआ करता है, निम्न-लिखित दोहों और पदों पर इनका जीवन-वृत्तांत अवलंबित है—

"जन्म लियो द्विजराजकुल, प्रकट वसे व्रज आय।
मेरे हरो कलेश सब, केशव केशवराय॥"
"जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुँदेलेबाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥"
"माथुर विप्र ककोर कुल, बसत मधुपुरी गांव।"

इनके अतिरिक्त अनुमान, जनश्रुतियां, और जीवनी में दिये हुए दोहे सहायक हैं।

१ जयसिंह जगतसिंह के पुत्र थे। जहाँगीर बादशाह (सं० १६०५-२७ ई०) ने अपनी बेगम जोधाबाई के कहने के अनुसार इनको राजा मानसिंह (मृत्यु-सं० १६७२ वि०) का तृतीय उत्तराधिकारी जयपुर का राजा (सं० १६१७ ई०) बनाया। ये वही जयसिंह हैं जिन्होंने सम्राट् औरङ्गज़ेब की आज्ञा से महाराज शिवाजी को दिल्ली तक लाने में सफलता प्राप्त की थी। ये

जयशाह, वा जयसाह) इनको बहुत मानते थे और उन्हीं के लिए इन्होंने सतसई की रचना की थी। एक दोहे में कहा भी है—

"हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिकाप्रसाद।
करी विहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥"

जयपुर महाराज तक इनकी पहुँच होने की कथा यों प्रचलित है। जयसिंह अपनी एक मुग्धा रानी पर इतने आसक्त हो गये थे कि उसको छोड़ कर राजकाज के लिए वाहर आते ही न थे, उस समय विहारीलाल ने निम्न-लिखित दोहा फूलों में रख कर महाराज की सेज पर भेजवा दिया—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों वँध्यो, आगे कौन हवाल॥"

महाराज की आँखें खुल गईं, दरवार में आये और काम-धाम करने लगे। प्रसन्न होकर कवि को अपने यहाँ रख लिया और भेंट पुरस्कार इत्यादि के वाद और दोहे लिखने की आज्ञा दी। विहारी ने जयसिंह-संवंधी कई दोहे लिखे हैं। किंतु अन्य कवियों के सदृश उनकी भरमार नहीं कर दी है। उनकी शूरता, वीरता, उदारता, चातुर्य तथा सौन्दर्य का वर्णन कहीं कहीं किया है[1]। विहारीलाल प्रसंगानुसार कविता करने में भी वहुत निपुण

मिरज़ा भी कहे जाते थे। सन् १६६७ ई० में विष-द्वारा इनका स्वर्गवास हो जाने पर रामसिंह और कृष्णसिंह में राज्य के लिए लड़ाई होने लगी। अंत में रामसिंह गद्दी पर बैठे। उपर्युक्त संवतों में कहीं-कहीं मतभेद भी है।

१ यों दल काढ़े वलख ते, तैं जैसाह भुआल।
उदर अघासुर के परे, ज्यों हरि गाय गुवाल॥ ॥१॥
अनी बड़ी उमड़ी लखे, असिवाहक भट भूप।
मंगल करि मान्यो हिए, मो मुँह मंगल रूप॥२॥

थे। जयसिंह ने एक चित्र में सर्प, मोर, मृग और बाघ को एक ही वृक्ष के नीचे देखकर प्रश्न किया तो कवि ने झट उत्तर दिया—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ, निदाघ॥"

महाराज का स्वर्गवास हो जाने पर बिहारीलाल का चित्त संसार से खिंच गया। जान पड़ता है, इनका आदर भी बहुत कुछ कम हो गया। न तो वह समय रहा न वैसे लोग रहे। कवि ने एक स्थान पर लिखा भी है—

"चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को व्यवहार।
नहिं जानत ह्याँ बसत हैं, धोबी और कुम्हार॥"

फिर कहा है—

"वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदरतो आव।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाव॥"
"अरे हंस या नगर में, जैयो आप विचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि, कोकिल दई विड़ारि॥"
"कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगत गुरु, जगनायक जग बाय॥"

ऐसे दोहों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिहारीलाल संसार से असंतुष्ट हो गये थे। जान पड़ता है कि इन्हीं दिनों ये अपना स्थान छोड़कर मारवाड़ चले गये। तिस पर भी शांति न

चलत पाय निगुनी गुनी, धन मनि मुकुता माल।
भेंट होत जयसाह सों, भाग्य चाहियत भाल॥३॥
सामा सैन्य सयान सुख, सबै शाह के साथ।
बाहुबली जयशाहजू, फते तिहारे हाथ॥४॥
प्रतिबिम्बित जयसाह दुति, दीपति दर्पणधाम।
सब जग जीतन को कियो, कायव्यूह मनु काम॥५॥

मिली। जयसाह की मृत्यु के अनन्तर दो उत्तराधिकारियों को परस्पर लड़ते और प्रजा को पीड़ित होते देखकर इन्होंने यह नीति और कवित्व-पूर्ण दोहा बनाया—

"दुसह दुराज प्रजान को, क्यों बाढ़ै दुखद्वंद।
अधिक अँधेरो जग करै, मिलि मावस रविचन्द ॥"

जीवन के अंतिम समय में इन महाकवि ने ऐसे दोहे निर्माण किये हैं जिनकी गणना लौकिक चातुर्य, श्रेष्ठ अनुभव और ईश्वर-भक्ति के सर्वोच्च दृष्टांतों में हैं। इन दोहों के पढ़ने पर विदित होता है कि बिहारीलाल के हृदय में भक्ति और ज्ञान की प्रबल धारा प्रवाहित थी। शृंगाररस-पूर्ण कविता के आधिक्य से इनके आचार-विचार को किसी प्रकार कलंकित समझना उचित नहीं है। इनके जीवन की कोई ऐसी घटना नहीं है जिससे इनके आचरण में किसी प्रकार का कलंक प्रतीत हो सके। इनके ग्रन्थ से केवल यही प्रमाणित हो सकता है कि मानव-चरित्र, प्रकृति और हृदय के गूढ़ भावों को ये खूब समझते थे। मनुष्य-लीला का इनको इतना पूर्ण ज्ञान था कि छोटी सी सतसई पढ़कर पारखी जन दंग रह जाते हैं। जिस दोहे से इन्होंने जयसाह को प्रेम-जाल से निकाला उसके पढ़ने से सिद्ध होता है कि शृंगार की पूरी सामग्री रहते हुए भी कर्तव्य पर इनका पूरा ध्यान था। ये धर्म को हाथ से जाने नहीं दे सकते थे। इन्होंने समय समय पर सब तरह के भाव दर्शाये हैं। उनमें किसी एक के लिए निश्चित रूप से कहना कि यह बिहारी के आचरण से संबंध रखता है अति कठिन और बड़े साहस का काम है। अतः इनके हृदय को स्वच्छ और आचरण को शुद्ध ही मानना ठीक है। अपने ग्रंथ को शांत रस से सींच कर और भक्ति भाव से सुशोभित करके इन्होंने शरीर त्याग दिया। यदि

युवावस्था में कुछ त्रुटियाँ रही भी हों तो उनको अन्तिम काल में इन्होंने दूर कर दिया। सतसई के समाप्त होने का समय कवि ने स्वयं एक दोहे में बतलाया है—

"संवत ग्रह[1] शशि जलधि क्षिति, छठ तिथि वासर चन्द।
चैतमास पख कृष्ण में, पूरण आनँद कंद॥"

---

१ भारतवर्ष के कवियों में गणना की यह प्रथा है—

१—चन्द्र, क्योंकि इस भूमंडल के लिए चन्द्र एक ही है। क्षिति, भूमि इत्यादि भी प्रयुक्त है।

२—पक्ष, क्योंकि पक्ष दो होते हैं। कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष।

३—नेत्र ,, शिवजी के तीन नेत्र मानते हैं, "त्रिलोचन"।

४—वेद ,, वेद चार हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, युग भी प्रयुक्त है।

५—बाण—मदन के पंचशर। सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन, स्तम्भन।

६—ऋतु—षट्ऋतु, वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमंत, शिशिर। रस भी ६ होते हैं

७—सागर—सप्त सागर। लवण, इक्षु, सुरा, सर्पी, दधि, दुग्ध, जल, मुनि इत्यादि से भी ७ का बोध होता है।

८—वसु—अष्ट वसुः—भव, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभव।

९—ग्रह—नवग्रहः—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु।

१०—दिक्—दश दिशायें—उत्तर, उत्तर-पूर्व, पूर्व, पूर्व-दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम पश्चिम-उत्तर, ऊर्ध्व, अधः।

०—रसन = रस + न, बिना रस, शून्य।

अथवा संवत् १७१९ वि० (स० १६६२ ई०,) में चैत्र मास के कृष्णपक्ष षष्ठी चन्द्रवार को सतसई समाप्त हुई। इसके पश्चात् बिहारीलाल कब तक जीवित रहे इसका कुछ पता नहीं। किन्तु अनुमान से थोड़े ही काल के पश्चात् उनका परलोक सिधारना ज्ञात होता है। अतएव संवत्, १७२० वि० उनकी मृत्यु-तिथि हो सकती है।

सतसई के पढ़ने से बिहारीलाल के विचारों का भी कुछ कुछ पता चलता है। यद्यपि इस छोटे से ग्रंथ के आधार पर कोई राय निश्चित रूप से नहीं प्रकट की जा सकती, तथापि दो चार दोहों के सहारे कुछ अनुमान किया जा सकता है। उस समय के धार्मिक सम्प्रदायों का वाद-विवाद और कलह इनको पसंद न था। इनकी समझ में सब मतों का सार तथा उद्देश केवल एक परब्रह्म की, (दे० दो० सं० २१२) जो सर्वव्यापी है, सेवा है। (दे० दो० सं० १९८) ये राम-कृष्ण दोनों ही को ईश्वर मानते थे, (दे० दो० सं० २०९ और २१३) किंतु कृष्ण तथा गोपाल, यदुपति इत्यादि नाम इनको अधिक प्यारे थे। बिहारीलाल ने भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए तिलक छाप इत्यादि को व्यर्थ ठहराया है (दे० दो० सं० २०८)

भारत के अनेक अन्य कवियों की तरह स्त्री को ये भी मुक्ति के रास्ते में एक बाधा समझते थे। (दे० दो० सं० २०१) ये विषय-भोग के त्याग और संतोष (दे० दो० सं० १७३, १७८) तथा ईश्वर पर विश्वास (दे० दो० सं० २११) को पूर्ण सुख का द्वार समझते थे। कंजूसी इन्हें पसंद न थी। इनके मतानुसार धनोपार्जन और उसका ठीक प्रयोग करना ही उचित है—

"मीत न नीत गलीत ह्वै जो धन धरिये जोरि।
खाये खरचे जो बचै तौ जोरिये करोरि"।

विहारीलाल की राय में स्त्री को पति का बल होता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का वास्तविक तात्पर्य यही है कि एक के गुण से दूसरा गुणी हो—

"नाह गरज नाहर गरज बोलि सुनायो टेरि।
फँसी फौज के बन्दि में हँसी सबन तन हेरि।"

इस प्रसंग में महाकवि मतिराम का एक दोहा स्मरण आ जाता है—

"करौ कोटि अपराध तुम वाके हिये न रोष।
नाह सनेह समुद्र में बूड़ि जात सब दोष।"

पाठकों को बिहारीसतसई पढ़ने पर एक आध और बातें मालूम हो सकती हैं।

कवि का समय[१]

महाकवि बिहारीलाल सत्रहवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। जिस समय इनका जन्म हुआ था गोस्वामी तुलसीदास अभी जीवित थे, किन्तु सत्तर एकहत्तर वर्ष की अवस्था पाकर अब स्वर्ग की तैयारी कर रहे थे। महाकवि केशवदास भी इसी लोक में उपस्थित थे, परन्तु गोसाईंजी से पहले ही उन्होंने शरीर

---

१ A literary work is not a mere individual play of imagination, the isolated caprice of an excited brain, but a transcript of contemporary manners, a manifestation of a certain kind of mind."—Taine's History of English Literature. अर्थात् साहित्यिक रचना केवल व्यक्तिगत कल्पना की लीला अथवा उष्ण मस्तिष्क की असंलग्न उत्कल्पना नहीं, समसामयिक आचारादि का अनुलेख तथा एक विशेष मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति है।

त्याग दिया। बिहारी के समकालीन कवियों में भूषण और मति-राम के नाम सबसे प्रसिद्ध हैं। महाकवि देवदत्त के जन्म लेने के पहले ही बिहारीलाल का स्वर्गवास हो गया।

यह वह समय था जब भारतवर्ष में किसी प्रकार की हल-चल न थी। सम्राट् अकबर मुग़ल-राज्य स्थापित कर चुका था। जहाँगीर और शाहजहाँ कर्णधार बने हुए शिथिल सागर में उसे चला रहे थे, औरंगज़ेब की अल्पदर्शी दृष्टि ने राजनीति को अभी चौपट नहीं किया था, शिवाजी महाराज के बल-पूर्वक पूर्ण विरोध का समय अभी आरहा था। राजपूताने में चारों ओर शांति फैली हुई थी, लड़ाई दंगा, कुटिल नीति, विश्वास-घात, तथा अराजकता का समय अभी आनेवाला था। यह बहुत ही उपयुक्त समय था जब रसिक-जनों की वृद्धि होती, रसमयी कविता का विकास होता और बिहारीलाल सतसई के रचयिता होते। लोगों को सुखमय जीवन व्यतीत करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था, विदेशी आक्रमणों का भय नहीं रह गया था। देश के भीतर एक ही महान् सम्राट् था जिसका लोहा सब मानते थे, और जिसके शासन में शांति-प्रेमी प्रजा निर्भय होकर अपना काम-काज कर सकती थी।

एक ओर देश की ऐसी स्थिति थी, दूसरी ओर भी दृष्टि डालने पर समय की उपयुक्तता दीख पड़ती है। सोलहवीं शताब्दी बीत चुकी थी, हिन्दू-धर्म और इसलाम के परस्पर मुठ-भेड़ का काल समाप्त हो चुकने पर एक नवीन फल निकल रहा था, शिल्प, स्थापत्य, गान-विद्या, चित्रकारी—सबने अपना अपना रस-पूर्ण रंग दिखलाया था, सुन्दरता की हर जगह पूछ थी, अकबर के दो उत्तराधिकारियों ने पत्नी-प्रेम की हद कर दी थी, उन्होंने संसार में सबसे सुन्दर महल बनवाये थे, संगीत और चित्र-विद्या को शिखर पर पहुँचा दिया था। वायु

मंडल ही कुछ आनन्दमय हो रहा था। ऐसे काल में रसपूर्ण कविता[1] होनी ही चाहिए थी।

---

१ स्मरण रहे कि यह काल ही कला का था। नृत्य, गान, वादन, चित्र, शिल्प, स्थापत्य सभी कलाओं की वृद्धि हुई, अतः काव्य-कला का समय भी यही था। मुग़लराज का झुकाव कला की ओर अधिक था और भारतीय सभ्यता पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। प्राचीन भारत में ज्ञान और विज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। संगीत ही को लीजिए। प्राचीन भारत संगीत-विज्ञान अथवा संगीत-शास्त्र की ओर अधिक झुका था। मुग़ल-राज ने संगीत-कला की ओर झुकाव डाला। इसी प्रकार चित्रकारी को देखिए, मौलिक भारतीय चित्रकारी में विज्ञान अधिक है, उस चित्रकारी का मुख्य गुण यह है कि जो भाव दर्शाना होता है उसको पूर्ण रूप से दर्शाते हैं, प्रधान वस्तु को उचित रूप से दिखलाते हैं। किन्तु मुग़लराज में चित्रण-कला की उन्नति—चित्र की सजावट, सुन्दर किनारा, प्रधान वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को शृंगार-सहित बनाना—इन सबकी बारी आई।

यही दशा कविता की भी हुई, काव्य-कला बढ़ने लगी। एक समय तो ऐसा आगया कि चाहे भाव कुछ भी हों, चाहे विचार किसी प्रकार के हों किन्तु यदि वे सुन्दर अलंकृत भाषा में प्रकट किये गये हों तो उनको काव्य कहा जाता था और यदि कविता शृंगार रस की हो तो फिर उसका पूछना ही क्या।

बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं कि सूर तुलसी के बाद अलंकारों की भरमार होगई। सेवक स्वामी बन बैठे। संयोग से इस समय अलंकार के उपासकों को राधावल्लभी सम्प्रदाय का सहयोग प्राप्त होगया। नायिका-भेद की धारा के बह चलने का यही मुख्य कारण है, क्रमशः नायिका-भेद नखशिख और षट् ऋतु का वर्णन प्रत्येक कवि के लिए आवश्यक होगया।

तीसरी बात, जो विचारयोग्य है, यह है कि वैष्णव-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ महाकवि का समय बीत चुका था, सूरदास तथा तुलसीदास काल-कवलित हो चुके थे। रामायण और विनय-पत्रिका इत्यादि ग्रंथ लिखे जा चुके थे। जैसा प्रकृति का नियम है, कार्य और प्रतिकार्य सदा हुआ करता है। धार्मिक संप्रदायों, भगवद्भजन और ईश्वर-गुणानुवाद के पश्चात् लौकिक रीति, स्त्री-पुरुष-चरित्र, और सुख-विलास के कथन का समय आया, महाकवि केशवदास ने रास्ता खोल दिया था। आगे चल कर महाकवि मतिराम को वही रास्ता पकड़ना था। बीच में बिहारी-लाल ने इसको ऐसा सुशोभित किया कि वह अब तक जगमगा

इस प्रवृत्ति के कुछ अच्छे और कुछ बुरे दोनों ही प्रभाव पड़े। भाषा में एक नये ढंग का माधुर्य आ गया, किन्तु भाव-विचार की कमी होगई और साधारण जनता का आचरण प्राचीन भारतीय आदर्श से कहीं नीचे गिर गया; इस कला-काल के आदि में बिहारीलाल हुए थे, उनमें उत्तर-कालीन कवियों की अपेक्षा अश्लीलता कम है किन्तु उनका भी ध्यान अधिकतर कला ही की ओर रहा और काव्य-कला में वे पराकाष्ठा को पहुँच गये। इसीलिए उनकी 'कविता' न लिखकर उनकी 'काव्य-रचना' शब्दों का प्रयोग किया गया है (दे० आगे) कुछ भाषाओं में (जैसे रोम की) और कुछ व्यक्तियों में (जैसे वर्जिल Virgil) काव्य-कला ही प्रधान है (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका)। कविवर बिहारीलाल भी इस संबन्ध में वर्जिल की श्रेणी के हैं। तुलसीदास ने कविता की जो परिभाषा दी है उसकी कसौटी पर कसे जाने से बिहारीलाल का महत्त्व अवश्य घट जाता है तथापि उनका स्थान तुलसीदास और सूरदास के बाद और सब कवियों से ऊँचा ही रहेगा (दे० आगे) लाला सीतारामजी ने लिखा है कि सतसई हिन्दी-साहित्य के अमूल्य रत्नों में से है, जिससे बिहारीलाल को श्रेष्ठ कवियों का पद प्राप्त है और उनका स्थान केवल तुलसीदास और सूरदास ही के बाद है।

रहा है, और सदा ऐसा ही जगमगाता रहेगा। परन्तु यह स्मरण रहे कि सूर और तुलसी का अटल प्रभाव बराबर बना रहा। जिस समय विहारी ने शृंगार छोड़ा बस उसी समय सब उस ओर टूट पड़े जिधर इन महात्माओं ने अपनी-अपनी कुटियाँ बना रखी थीं। ये भी भक्ति और शांत रस की बड़ी मनोहर छटा दिखला गये। जिस प्रकार सूरदास ने विनय की है उसी प्रकार इन्होंने भी की। कई जगह तो शब्द, अर्थ, भाव[1] सभी मिल गये हैं। और भाषा तो दोनों की व्रज है ही। तुलसीदास का भी प्रभाव इन पर पड़ा था जैसा कि निम्नलिखित दोहों से प्रकट होता है—

"यह बिरिआ नहिं और की, तू करिआ वह सोध।
पाहन नाव चढ़ाय जिन, कीने पार पयोध॥
पतवारी माया पकरि, और न कछू उपाय।
तरि संसार पयोधि को, हरि नामैं करि नाव॥
बंधु भये का दीन के, को तार्‌यो रघुराय।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद बुलाय॥"

अर्थात् राम-कृष्ण दोनों को ईश्वर-स्वरूप मानकर इन्होंने विनय की है। इन्होंने किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं किया। तुलसीदास के सम्बंध में एक दोहा प्रसिद्ध है कि कृष्ण की मूर्ति को देखकर उन्होंने तब तक प्रणाम करना अस्वीकार किया जब तक हाथ में धनुष-बाण न दिखाई पड़ें—

"कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ[2]"॥

---

१ टीका के प्रसंग में तुलना के लिए सूरदास तथा अन्य कवियों के पद स्थान स्थान पर लिख दिये जायँगे।

२ किन्तु तुलसीदास के सम्बन्ध में यह कदापि न भूलना चाहिए कि उन्होंने अपने राम-चरित-मानस में शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों का मनोहर मेल करा दिया है।

किन्तु, यह कथन विहारीलाल के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। कवि ने स्वयं कहा है—

"अपने अपने मत लगे, वादि मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबही सेइबो, एकै नन्दकिसोर॥"

तथापि इन्होंने कृष्ण ही का नाम अधिक लिया है। एक तो व्रज में रहते ही थे। दूसरे इनकी रसिक कविता के लिए राधा-कृष्ण ही का वर्णन ठीक था। हिन्दी के कवियों और गवैयों ने शृंगाररस का वर्णन अधिकतर राधा-कृष्ण ही को नायिका-नायक बना के किया है। इस प्रथा का विशेष गुण यह है कि विषय-भोग की बातें धार्मिक रंग में रँगने से अपना अहितकारी प्रभाव बहुत कुछ छोड़ देती हैं।

चौथी बात, जो स्मरणीय है, यह है कि जीवन के दिवसान्त में विहारीलाल संसार से असंतुष्ट होकर उससे विमुख हो गये। राजा जयसिंह की मृत्यु ने इनकी सब बात ही विगाड़ दी। किंतु कविता पर इसका अच्छा ही प्रभाव रहा। युवक-युवतियों पर इतना लिखने के बाद ईश्वर और वैराग्य पर भी उत्कृष्ट कविता करने का अवसर मिल गया। वही विहारीलाल जो किसी समय स्त्री स्वरूप को सब कुछ समझ बैठे थे, जिनके लिए संसार या मनुष्य-जीवन में और कोई बात ही नहीं थी—

"तिय तिथि तरनि किसोर वय, पुन्यकाल समदौन।
काहू पुन्यनि पाइयत, वैससंधि संक्रौन॥"

"ताहि देखि मन तीरथनि, विकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, वेनी परसत पाय॥"

अब तुलसीदास की तरह इस प्रकार लिखने लगे—

"या भव-पारावार को, उलँघि पार को जाय।
तिय-छवि छाया ग्राहनी, गहै बीचही आय॥"

श्रौर इतने विरक्त हो गये कि लिखते हैं—

"कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय॥"
"कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति यदुपति सदा, विपति विदारनहार॥"

सतसई पढ़ने से उस समय की दो चार सामयिक बातों का भी पता मिलता है। स्त्रियों में परदा बहुत था, अपने पुरुष से भी उनको बहुधा रात्रि ही को भेंट हुआ करती थी, घूँघट से मुख ढके रहने की चाल थी, और स्त्रियाँ अपने को गहनों से आभूषित रखती थीं। पैर में महावर तथा नेत्र में अंजन लगाने की भी रीति थी। नवल-वधू की मुखदिखरावनी हुआ करती थी और स्त्रियाँ व्रत इत्यादि रह कर चन्द्रमा को अर्घ देती थीं। गोधन इत्यादि की पूजा भी प्रचलित थी। कभी कभी एक पुरुष की कई पत्नियाँ होती थीं जिनमें साधारणतः आपस में द्वेष रहा करता था। पंडित लोग पुराण की कथाएँ तथा धार्मिक शिक्षाएँ सुनाया करते थे। वर्तमान समय में ये सब बातें और रीतियाँ धीरे-धीरे उठी जा रही हैं। समय के परिवर्तन के साथ आदर्श, संस्कार, तथा विचार कुछ और ही हो रहे हैं।

इस प्रसंग में उचित ज्ञात होता है कि अँगरेज़ी भाषा के विद्यार्थियों के लिए अँगरेज़ी साहित्य का भी थोड़ा सा परिचय दे दिया जाय, क्योंकि टीका के भीतर स्थान स्थान पर तुलना के लिए अँगरेज़ी कविता के पद भी लिख दिये जायँगे। सत्रहवीं शताब्दी इँग्लिस्तान के इतिहास में एक विचित्र काल है। महारानी एलिज़बेथ का देहान्त हो जाने पर (स० १६०३ ई०) स्टुअर्ट-वंश का राज्य हुआ। परंतु, कुछ ही समय के पश्चात् राजनैतिक और धार्मिक कारणों से देश में अशांति फैल गई और युद्ध

छिड़ने लगा। सं० १६६० में जब यह वंश फिर पूर्वावस्था को प्राप्त हुआ तो समय कुछ और ही होगया था। चार्ल्स की विषया-सक्तता ने ऐसा दुष्प्रभाव डाला कि शुद्ध आचरणवाले हाय-हाय करने लगे। दुराचार सर्वत्र फैल गया। अति नैष्ठिकतावाद (Purtanism) की कट्टरता और धर्म-बंधन से छूट कर लोगों को भोग-विलास की सूझी, कवि और नाट्यकारों ने भी सहायता की। साहित्य अश्लील बातों से भर गया। एक बेचारा मिल्टन, जो तब तक अंधा हो चला था, धर्म-पथ पर डटा रहा और प्रवाहित धारा को रोकने का प्रयत्न करता रहा। किन्तु अकेले उसके किये क्या होता। भारतवर्ष की वैष्णव-जाति में कट्टरता न थी। दिखावटी बन्धनों का ज़ोर न था। वह एक उदार आन्दोलन था। इसीलिए यहाँ इँग्लिस्तान की सी बातें नहीं हुईं। उस समय के अँगरेज़ी कवियों के कुछ नाम नीचे[1] लिखे जाते हैं।

अँगरेज़ी पढ़नेवालों को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। हिन्दी और अँगरेज़ी कविता में बहुत से भेद हैं। उनमें एक बड़ा भेद यह है कि हिन्दीवाले शोभा वर्णन करते समय अंग-प्रत्यंग का

---

१ ऐब्रहम काउली (Abraham Cowley) 1618 -- 1667 १६१८—१६६७ई०
रिचर्ड क्रेशा (Richard Crashaw) 1613—1649 १६१३—१६४९"
जान ड्राइडेन (John Dryden) 1631—1700 १६३१—१७००"
रॉबर्ट हैरिक (Robert Harrick) 1591—1674 १५९१—१६७४"
मिल्टन (Milton) 1608—1674 १६०८—१६७४"
एडमंड वॉलर (Edmund Waller) 1606—1687 १६०६—१६८७"
सर टामस वित्रआट (Sir Thomas Wyatt) 1503—1542 १५०३—१५४२"

विलियम शेक्सपियर (William shakespeare १६१६ ई० और बेन जॉन्सन Ben Jonson) सं० १६३७ ई० में मर गये। टीका में अनेक बड़े कवियों के नाम आयेंगे जो बिहारी के समकालीन न थे, जैसे कीट्स (Keats) शेली (shelley) इत्यादि।

सौन्दर्य दिखलाते हैं। और हर एक के लिए उपयुक्त आभूषणों का वर्णन देते हैं। दूसरी बात यह है कि हिन्दी कवि अलंकार, रस और भाव बहुत पसंद करते हैं तथा मानसिक दशाओं का पूरा चित्र अलंकारों की सहायता से सरस भाषा मे दिखलाते हैं। अँगरेज़ी की उपमाएँ तथा अन्य अलंकार, रसभेद, नायक-नायिका-भेद इत्यादि हिन्दी की उपमाओं आदि के सामने कुछ नहीं हैं[1]। प्रसंगानुसार कहीं कहीं टीका के भीतर ही दृष्टांत दे दिये जायँगे। किंतु इतना लिख देना अनुचित न होगा कि बिहारी के टक्कर का कवि अँगरेज़ी भाषा में पाना अत्यन्त कठिन है[2]।

---

१ इस कथन से अँगरेज़ी साहित्य की निन्दा न समझनी चाहिए। उस साहित्य-सागर में भी कितने ही गुण हैं जो हिन्दी तथा अनेक अन्य भाषाओं में बहुत कम मिलते हैं तथापि उपर्युक्त दो गुणों में, जो बिहारी में बहुतायत से मिलते हैं, अँगरेज़ी साहित्य सामने नहीं खड़ा हो सकता।

२ स्वयं ग्रीयर्सन साहब लिखते हैं ' Bihari Lal has been called the Thompson of India, but I do not think that either he or any of his brother lyric poet of Hindusthan can be usefully compared with any Western poet. I know nothing like his verses in any European language. Let it be remembered that each couplet is complete in itself......Each verse must be one whole —an entire picture,—frame and all."

[बिहारीलाल भारतीय टॉमसन माना गया है। परन्तु मैं नहीं समझता कि उसकी अथवा उसके सदृश अन्य किसी भारतीय गीति-कवि की लाभदायक (उचित रूप में) तुलना किसी पाश्चात्य कवि से की जा सकती है। मुझे किसी भी योरपीय भाषा में उसके पदों के सदृश पद नहीं मालूम हैं। स्मरण रहे कि प्रत्येक दोहा स्वयं संपूर्ण है......प्रत्येक दोहा एक समष्टि होना चाहिए—एक पूरा चित्र,—चौखट और सब (कुछ)]

इनका कोई कोई दोहा संसार भर में अद्वितीय है, और अँगरेज़ी भाषा में सतसई के अंतिम दोहों के जोड़ के पद्य ढूँढ़ना तो ऐसा ही है जैसा मशीन में आत्मा ढूँढ़ना। खैर यह तो विशेषतः पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यताओं के अंतर के कारण है। भारतीय जीवन के आदर्श, धार्मिक नियम, सामाजिक संस्थाएँ तथा आचार-विचार ही भिन्न हैं, जिनके कारण विहारी जैसे अद्वितीय रसिक कवि भी वैराग्य के प्रभाव से न बच सके।

विहारी की काव्य-रचना

महाकवि विहारीलाल-रचित केवल एक ही ग्रंथ प्राप्त है जो सतसई के नाम से प्रसिद्ध है। निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने केवल इतना ही लिखने में अपनी सारी उमर खपा दी अथवा इनके कुछ ग्रंथ समय तथा कुपारखियों के पाषाण हृदय पर चूर हो गये। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि कवि ने हज़ारों दोहे बनाये और उनमें से सर्वोत्कृष्ट प्रायः सात सौ छाँट कर शेष को "साधारण या शिथिल" जान नष्ट कर दिया। वास्तव में क्या बात है इसका किसी को ठीक ज्ञान नहीं, अतः केवल सतसई ही के आधार पर वर्तमान समय में विहारी का नाम सुप्रतिष्ठित है।

यह छोटा सा ग्रंथ मधुर व्रज-भाषा में दोहा और सोरठा[१] छन्दों में लिखा गया है। परन्तु कवि ने जगह जगह अन्य देशी

---

१ दोहा और सोरठा द्विपदी छन्द हैं जिनका प्रत्येक पद २४ मात्राओं का होता है। दोहे के पद में १३ मात्रा पर और सोरठे के पद में ११ मात्रा पर विराम होता है। पद के दोनों खंडों को उलट फेर के पढ़ने से दोहा सोरठा और सोरठा दोहा हो जायगा।

और विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। "विहारी ने फ़ारसी, अरबी, तुर्की और राजपूतानी शब्दों के सहारे भी बड़ी अच्छी उक्तियाँ कही हैं"[1] (लाला भगवानदीन)। कहीं कहीं प्रांतीय[2] शब्द भी अधिक प्रयुक्त हैं।

विहारी-द्वारा प्रयुक्त शब्दों में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। (१) कुछ शब्द तोड़-मरोड़ के विकृत रूप में लिखे गये हैं, जैसे 'अगिनि' (अग्नि) 'मोख' (मोक्ष) 'ईठि' (इष्ट) 'बट' (बाट) 'संसो' (सांस) 'चाढ़' (चढ़कर)। अनेक शब्द तुक के लिए भी बिगाड़े[3] गये हैं। (२) कुछ शब्दों से अधिक अर्थ लिया गया

उदाहरण:—मे री भ व बा धा ह रौ, रा धा ना ग रि सो य (दोहा)
२ २ १ १ २ २ १ २, २ २ २ १ १ २ १
पा व स क ठि न जु पी र, अ ब ला क्यों क रि स हि स कै (सोरठा)
२ १ १ १ १ १ १ २ १, १ १ २ २ १ १ १ १ १ २
(दीर्घ मात्रा को दो और ह्रस्व को एक गिनते हैं)

१ अदब, गनी, इजाफा, ताफता, मतीर इत्यादि का प्रयोग हुआ है।

२—ठेठ बुंदेलखंडी के कई शब्द आये हैं जैसे 'स्यों' (सहित), 'खए' (पखौंरा), 'ढूंका देना' (छिप कर सुनते फिरना) 'लखवी' 'गनवी', इत्यादि। अन्य व्रज भाषा कवियों ने भी 'लखवी' इत्यादि का प्रयोग किया है। स्वयं सूरदास लिखते हैं "मोहि तोहि जानवी नँदनन्दन जव वृन्दावन ते गोकुल जैवो" दास ने भी 'कहिवी', 'पूछवी' लिखा है। कुछ विकृत शब्द जैसे 'मूका' (मोखा), 'खियाल' (खेल) आदि पूरब में ही बोले जाते हैं।

३ हिन्दी के कवियों ने बहुधा ऐसा किया है, कविशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के ग्रंथ इनसे भरे पड़े हैं, बिहारी के विकृत शब्द

है। वास्तव में वे उतना अर्थ देने में असमर्थ[१] हैं। (३) दो चार शब्द अवसर पड़ने पर गढ़ भी लिये गये हैं। जैसे 'छांकु', 'उड़ायक' इत्यादि।

इस प्रकार एक आध और छोटे-मोटे शब्द, व्याकरण अथवा पद-संबंधी दोष निकाले जा सकते हैं। तथापि बिहारी की भाषा अति मनोहर है। एक तो यह स्वयं व्रज[२] ठहरी दूसरे, बिहारी के हाथों पड़ी। सोने में सुगंध मिल गई। इनके दोहे भाषा-माधुर्य और सौंदर्य के आधिक्य से लहलहाते-जगमगाते दीख पड़ते हैं। सुन्दर सजीव शब्दों की भरमार है। पन्ने उलटते चले जाइए, जी नहीं ऊबता, पद और भी हृदयग्राही होते जाते हैं। बात की बात में सतसई समाप्त हो जाती है। तब क्रोध-सा उत्पन्न होता है कि कवि ने आगे क्यों नहीं लिखा। फिर सोचने पर ज्ञात होता है कि अब बचा ही क्या जो लिखा जाता। बिहारी के शब्द-

---

बहुत से अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं 'त्त' को 'ख' लिखना तो साधारण बात है। 'अत्तर' को 'आखर' कितनों ही ने कहा है।

१ निम्नलिखित पदों में 'ज्यों' का अर्थ 'ज्यों त्यों' और 'दीजतु' (दे० दो० १६ पादटीका) का अर्थ 'देती है' वा 'देगी' है।

"सबहिनु बिनुही ससि-उदै, दीजतु अरघ अकाल"
"जात जात ज्यों राखियत, पिय को नाम सुनाय"

२ फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अली हज़ीं व्रज भाषा की मधुरता की प्रशंसा सुन कर उसका फ़ारसी से मुक़ाबिला करने के लिए व्रजमंडल को चले। वहां पहुँचते ही एक ग्वालिन के एक छोटे बच्चे को मां के पीछे पीछे जाते और रास्ते की कंकड़ियों से पीड़ित होकर रोते हुए देखा, वह कह रहा था "माय री माय मग सांकरी पगन में कांकरी गड़तु है।" शायर साहब दंग हो गये। उन्होंने सोचा कि अज्ञान बच्चे की यह भाषा है। कवियों की भाषा तो अमृत-सागर ही होगी।

गठन और पद-रचना का एक बड़ा गुण यह है कि जैसा भाव वर्णित है अथवा दृश्य वा चरित्र चित्रित है ठीक वैसे ही शब्द प्रयुक्त हैं। शब्दों का परिवर्तन तथा हेर-फेर सब मामला ही विगाड़ देता है। यदि किसी पद का एक शब्द हटा के दूसरा रख दीजिए तो वह रस, वह माधुर्य सब चला जाता है। सुनिए :—

"लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-मूल कपोल"।

"अंग अंग नग जगमगत, दीपसिखा-सी देह"॥ (सच पूछिए तो यह इनकी कविता ही का स्वरूप है)।

"चमचमात चंचल नयन, विचघूँघट पट झीन" (इनकी कविता क्या कुछ कम चमचमा रही है?) अर्थ इत्यादि को तो अभी छोड़ कर केवल शब्दों के प्रयोग पर ध्यान दीजिए और वार वार उच्चारण करके कानों का सुख अनुभव कर लीजिए।

"लगा लगी लोइन करें, नाहक मन बँधि जाँहि"

"खिन खिन होति खरी खरी अरी जरी यह प्रीति"

इत्यादि

यदि इन पदों में लगा-लगी, नाहक, खरी, जरी शब्दों को बदल दीजिए तो सब रस ही चला जायगा।

दूसरा महान् गुण इनकी भाषा में यह है कि एक एक शब्द एक एक पूरे चित्र[२] का बोध कराते हैं। और पाँच सात शब्द मिल के ऐसा रूप खड़ा कर देते हैं जो साधारणतः शायद सहस्र

---

१ अँगरेज़ी भाषा के प्रसिद्ध लेखक Lord Macaulay (लार्ड मेकॉले) ने प्रतिष्ठित कवि Milton (मिल्टन) के संबंध में यही कहा है—बिहारीलाल के लिए यह कथन बड़ा ही उपयुक्त है।

२ "an entire picture—frame and all" (पूरा चित्र-चौखट और सब कुछ)

शब्दों में भी पूर्ण रीति से वर्णित न हो सके। पढ़ते समय कभी कभी ऐसा जान पड़ता है मानों कोई अपूर्व सिनेमा देख रहे हों। क्षण-मात्र में दृश्य पर दृश्य सामने से नेत्रों को सुख देते और हृदय को प्रफुल्लित करते चले जाते हैं। देखिए,

"भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहत, घरी, लौं नैन"।
"ज्यों ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन" ॥
"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी, लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय" ॥—कहिए गागर में सागर भरा है अथवा नहीं ?

तीसरा भारी गुण इनके शब्द-प्रयोग में यह है कि अनेकार्थी शब्दों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। शब्दों के भिन्न अर्थ से इन्होंने कैसा काम निकाला है, यह निम्नलिखित पदों से स्पष्ट है।

"जोग जुगुति सिखये सबै, मनो महा मुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन" ॥
"तो तन अवधि अनूप, रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृग लागे रूप, दृगन लगी अति चटपटी" ॥
"तो पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरवसी समान" ॥
"गुनी गुनी सब कोउ कहै निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते अर्क समान उदोत" ॥
"कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय"।
"भजन कह्यौ तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जासों कह्यौ, सो तूँ भज्यो गँवार" ॥

उपर्युक्त पदों में "जोग" "कानन" "सेवत" "लगना" "उरवसी" "अर्क" "कनक" "भजना" के अर्थ पर ध्यान दीजिए।

"बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है[१] उतनी ही गहरी-गूढ़ और गंभीर है।" (पं० पद्मसिंहशर्मा) इसके प्रमाण में यही लिखना पर्याप्त है कि सतसई की टीका पर टीका[२] लिखी गई और लिखी जा रही है, फिर भी सहृदय समाज को तृप्ति नहीं होती। किसी एक अर्थ को सुनिश्चय मानकर उससे संतुष्ट होना बहुत कठिन है। हिन्दी-साहित्य में केवल सतसई ही ऐसा ग्रंथ है जिसकी टीका संस्कृत-भाषा में भी की गई है, हिन्दी में तो कुछ गिनती ही नहीं। कितनी ही टीकाएँ हो चुकीं। कोई सीधे-साधे अर्थ करता है। कोई चारों ओर शृंगार ही देख रहा है। किसी को वैद्यक ही की सूझी है। एक एक दोहे से एक एक नुसखा निकाल मारा है। किसी ने उसमें शांतरस ही ढूँढ़ना शुरू किया है और "गहरे अध्यात्म भावों की उद्भावना की है।" स्मरण रहे कि बिहारी के टीकाकारों में बहुत बड़े-बड़े कवियों की भी संख्या है। हिन्दी-नवरत्नों में से एक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को भी टीका करने का उत्साह हुआ। उन्होंने ७०, ८० दोहों पर कुंडलियाँ भी लगाईं। परन्तु इस कार्य को कदाचित् असाध्य

१ ग्रीयर्सन साहब लिखते हैं "I have never failed to find fresh pleasures in its study and fresh beauties in the dainty word colouring of the old master."

मुझे इसके अध्ययन में नवीन आनन्द और इस प्रवीण गुरु के सुन्दर शब्दरंजन में नवीन सौन्दर्य प्राप्त करने में कभी असफलता नहीं हुई है।

२ "Bihari's poems have been dealt with by innumerable commentators. Its difficulty and ingenuity are so great that it is called a veritable Akṣara Kāmdhenu." बिहारी की कविता पर अनेकानेक टीकाकारों ने टीकायें रची हैं यह इतनी कठिन और कौशल-पूर्ण है कि इसे वास्तविक अक्षर कामधेनु कहा गया है। ग्रीयर्सन।

समझ कर वहीं छोड़ दिया। बस इन्हीं बातों से इनकी गूढ़ता और गंभीरता समझ लीजिए।

साधारण रूप से देखने पर सतसई में तीन प्रकार के दोहे मिलते हैं (१) इस ग्रंथ का अधिकांश तो शृंगार-रस-सिंचित है, जिसमें नायक-नायिका का सौंदर्य, अंग-प्रत्यंग की शोभा और आभूषणों की छटा वर्णित है[१]। फिर प्रेम-क्रीड़ा और उससे उत्पन्न विविध भावों तथा दशाओं का वर्णन है। तत्पश्चात् विरह, मान, गर्व आदिक का चित्र खींच कर ऋतुओं इत्यादि का मनोहर रूप उतारा है (२) कुछ दोहे लोक-रीति तथा सामाजिक व्यवहारों के संबंध में हैं जो अति चातुर्य-पूर्ण और शिक्षा-प्रद हैं। (३) शेष ईश्वर-वन्दना, भक्ति और वैराग्य-संबंधी दोहे हैं। स्मरण रहे कि बिहारी ने स्वयं अपने दोहों को श्रेणीबद्ध नहीं किया था। ग्रंथ-रूप में प्रकाशित करते समय विद्वानों ने अपना अपना क्रम बना लिया है। यहाँ पर केवल सुगमता के लिए ये भाग किये गये हैं, किसी प्राप्त प्रति में ऐसा विभाग नहीं मिलता। बिहारी की काव्य-रचना का नियम ही कुछ भिन्न था। उन्होंने

---

१ बिहारीलाल पर एक यह दोष भी लगाया जाता है कि उन्होंने अधिकतर ऊपरी सौंदर्य (Superficial beauty) का वर्णन किया है और उनकी नायिकायें कामी नायकों के अनुरूप बनाई गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह समालोचना कुछ तो यथार्थ है और इसका मुख्य कारण यह है कि शृंगार-रस के कवि और काव्य-कला में प्रवीण कवि में कुछ न कुछ यह दोष होगा ही। किंतु यह सोचने की बात है कि जिस कवि ने प्रेम की प्रगाढ़ता, अनुराग की स्वाभाविकता, विरह की प्रचंडता, नीति-न्याय और धर्म की मर्यादा पूर्णरूप से दिखलाई हो उसको उक्त दोष से विशेष कलंकित कैसे किया जा सकता है।

ग्रंथ-निर्माण न करके पद-रचना की थी। एक एक दोहा अपने अपने विषय को पूर्णतया प्रकट करता है। दूसरे दोहों से न उसका संबंध है न उसे उनकी सहायता की आवश्यकता है। कवि को जिस समय कोई बात सूझी उसी समय उसने संपूर्ण भाव, दृश्य वा चित्र इत्यादि को एक मनोहर दोहे में संगठित करके ठूँस ठूँस कर भर दिया, और पाठकों के लिए कवि-वाणी "अर्थ अमित अति आखर थोरे" के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण बना डाला। ऐसे पद्यों को, जो अकेले ही इतने अर्थ तथा रस-पूर्ण होते हैं कि पाठकों को तृप्त कर देते हैं, "मुक्तक"[1] कहते हैं। ऐसा पद्य लिखना कितना कठिन है, यह स्पष्ट है।

---

१ ग्रीयर्सन साहब की राय में "The lotus bloom of Indian verse is its lyric poetry" (भारतीय कविता का विकसित कमल उसका गीति-काव्य है) उसमें भी " It is however in its detached verses—sonnets if I may use the expression—that the genius of Indian lyric poetry has reached its full perfection. These brief quatrains, miniatures, each portraying by means of a few lines drawn by a masterhand little pictures complete alike in its nature and in its art coloured with all the richness which a copious and flexible language could give attracted the attention of Western admirers at an early stage of the intercourse between Europe and India" (भावार्थ—मुक्तक छंदों में भारतीय गीति-काव्य सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है। ये छोटे छोटे छंद प्रवीण हाथों से दो-चार रेखाओं द्वारा खिंचे हुए चित्र हैं जो कला और भाव में पूर्ण हैं। जिनको एक सहजही कमनीय और शब्द-पूर्ण भाषा ने रंजित किया है। भारत और योरप के प्रथम संसर्गही के समय इन छन्दों ने पाश्चात्य प्रशंसकों को आकर्षित किया।)

इस कठिन कार्य को विहारी ने कितना सफलता-पूर्व्वक निवाहा है, इसका अनुमान केवल उनके दोहों के पढ़ने ही से हो सकता है। उनका प्रत्येक दोहा इस कथन का प्रमाण है। पूरा चित्र—वर्तमान दशा और पूर्व इतिहास-सहित, अवस्था—कुल भावनाओं के साथ, वस्तु वा दृश्य—पूर्ण निरीक्षण समेत वर्णन करना केवल एक छोटे से २४ मात्रा के छन्द में विहारी ही के काव्य-कौशल से संभव हो सकता था। सतसई के संबंध में एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (Encyclopaedia Britannica) में लिखा है:—

"The Satsai is perhaps the most celebrated work of poetic art, as distinguished from narrative and simpler styles. Each couplet is independent and complete in itself and is a triumph of skill in compression of language, felicity of description and rhetorical artifice."

विवरणात्मक तथा अन्य सरल शैलियों को छोड़कर (केवल) काव्य-कला में सतसई शायद सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है। प्रत्येक दोहा स्वतंत्र और स्वयं-पूर्ण है और भाषा-संहृति, वर्णन तथा अलंकार-चातुर्य में कौशल की चरम सीमा है। उदाहरणार्थ कुछ दोहों को पढ़िए।

"अजौं न आये सहज रंग, विरह दूवरे गात।
अबहीं कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥"
"कहत, नटत, रीझत खिझत, मिलत मिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सों बात॥"
"डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरो विषम छविछाक॥"

"केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जात रूप को रूप॥"
"भूषन भार सँभारि हैं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परत धर, सोभाही के भार॥"
"न जक धरत हरि हिय धरत नाजुक कमला वाल।
भजत भार भयभीत ह्वै घन चंदन वनमाल॥"
"या भव पारावार को उलँघि पार को जाय।
तिय छविछाया ग्राहिनी गहै बीच ही आय॥"

यदि सत्य पूछिए तो विहारीलाल के दोहे[1] उतने ही सार-गर्भित और रसपूर्ण हैं जितने सूरदास के पद अथवा तुलसी-दास की चौपाइयाँ। ऐसे दोहे तो आज तक किसी ने लिखे नहीं। यद्यपि अनेक कवियों ने निष्फल अनुकरण किया है, और सतसई नाम के ग्रंथ भी वनाये हैं, किंतु, "कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजवा तेली।' "चे निस्वत खाक रा वा आलमे पाक।" अव प्रत्येक विभाग पर ध्यान दीजिए।

(१) शृंगार-रस के दोहे—विहारी ने कमाल कर दिया है। इस रस में उनको वही अन्य-कवि-दुर्लभ पद प्राप्त है जो

१—कवि ने स्वयं लिखा है और यथार्थ लिखा है।

"सतसैया के दोहरा, जस नावक के तीर।
देखत को छोटा लगै, घाव करै गंभीर॥"
"जो कोऊ रस रीति को, समुझो चाहै सार।
पढ़ै विहारी सतसई, कविता को सिंगार॥"
"भांति भांति के वहु अरथ, यामें गूढ़, अगूढ़।
जाहि सुने रस-रीति को, मन समुझत अति मूढ़॥"
"विविध नायिका-भेद अरु, अलंकार नृपनीति।
पढ़ै विहारी-सतसई, जानै कवि रस-रीति॥"

महात्मा सूरदास को भक्तिरस में, गोसाईंजी को शांत-रस में अथवा भूषण को वीर-रस में दिया गया है। श्रृंगार रस के कवियों में देव, केशव, मतिराम, दास, पद्माकर और तोष आदिक बहुत प्रसिद्ध हैं और टीका में प्रसंगानुसार तुलनार्थ इनके पद्य भी लिखे जायँगे। किन्तु, वास्तव में विहारी की उत्कृष्टता को ये लोग नहीं पहुँच सके हैं। इस संबंध में तीन-चार बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जिनसे विहारी की उत्तमता स्वयं स्पष्ट है। एक तो ये "अलंकारों के बड़े उत्कट भक्त थे। एक एक दोहे में पाँच सात दस पंद्रह तक अलंकार मौजूद हैं।" (लाला भगवानदीन) टीका में इनका वर्णन किया जायगा। किन्तु, यह लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि इनकी उपमाएँ निःशंक अद्वितीयता का दम भर सकती हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पदों पर विचार कीजिए।

"मो मन मोहन रूप मिलि, पानी में को लोन"
"जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह सी होति"
"अरगट ही फानूस सी परगट होति लखाय"
"आली, बाढ़ै विरह ज्यों पंचाली को चीर"
"चमचमात चंचल नयन, विच घूँघट पट झीन।
मानो सुर-सरिता विमल, जल उछलत जुग मीन॥"
"सोहत ओढ़ै पीतु पट, श्याम सलौने गात।
मनौ नील मनि सैल पर, आतपु पर्यो प्रभात॥

"इन कवि ने अतिशयोक्ति में कलम तोड़ दी है।" विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में, इन महाकवि ने उपमाएँ (दो० ८, ६१, १५७, १६८ इ०) बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज खोज कर दी हैं तथा उत्प्रेक्षाएँ (दो० १६३, २१४ इ०) और रूपक (दो० ११, ३७, ५८, १००, १०३ इ०) भी बड़े ही चोखे कहे हैं।

दूसरे चित्र उतारने में ये बड़े ही निपुण थे। नायिका-स्नान, केश-च्यौरन, जूड़ा-बंधन इत्यादि चित्रों को पढ़ कर ज्ञात हो जाता है कि शब्दों और काव्य में कितना सामर्थ्य है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। कृष्णजी राधिका-नयन-शर से विद्ध होकर पृथ्वी-तल पर अचेत पड़े हैं। कवि ने कहा है--

"कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट बनमाल॥"

इतनी ही बात "रचना-शिथिल" भाषा में सुन्दर कवि ने आठ पदों में वर्णन की है। देखिए कितना अंतर है। ज़रा "लड़ैते" का ज़ोर देखिएगा—

"कहूँ बनमाल कहूँ गुञ्जन की माल कहूँ,
संग सखा ग्वाल ऐसे हास (ल) भूलि गये हैं।
कहूँ मोर चंद्रिका लकुट कहूँ पीत पट,
मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डारि दये हैं।
कुंडल अडोल कहूँ सुन्दर न बोलें बोल,
लोचन अलोल मानो कहूँ हर ल्ये हैं।
घूँघट की ओट ह्वै के चितयो कि चोट करी,
लालन तो लोट पोट तबहीं तें भये हैं"।

नायिका-स्नान का वर्णन देखिए, कितना स्वाभाविक और मनोहर है:—

"मुँह पखारि मुँड़हारि भिजै सीस सजल कर छाय।
मौरि उँचै घूँटने नै नारि सरोवर न्हाय॥
मुँह धोवति एँड़ी घँसति हँसति अनँगवति तीर।
धँसति न इन्दीवरनयनि कालिन्दी के नीर॥"
"न्हाइ पहिरि पट झट कियो वेंदी मिस परनाम"

विरह-वर्णन तो विहारी का सचमुच अद्वितीय है। विरह का पहलू पहलू खोल कर इन्होंने सामने रख दिया है। विश्व-साहित्य में कदाचित् ही इनका जोड़-तोड़ मिले। "अन्य कवियों की अपेक्षा विहारी ने विरह का वर्णन वड़ी विचित्रता से किया है। इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकापन है। कुछ विशेष 'वक्रता' है, व्यंग्य का प्रावल्य है, अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का (जो कविता की जान और रस की खान है) अत्युत्तम उदाहरण है" (पं० पद्मसिंह शर्मा)। विरह की दशा, नायक-नायिका पर उसका प्रवल प्रभाव, पाती लिखना, अनलिखी भेज देना और उसका बाँच लेना, इस सुन्दरता से वर्णित है कि वस पढ़िए और उसका सुख अनुभव कर लीजिए। इसमें एक विशेष गुण यह है कि अलंकारों ने चमत्कार को हद तक पहुँचा दिया है। देखिए—

"मरिवे को साहस ककै, वढ़ै विरह की पीर।
दौरति है समुहें ससी, सरसिज सुरभि समीर॥"
"नित संसौ हंसौ वचतु, मानौ इहिं अनुमान।
विरह अगनि लपटनि सकै, झपट न मीच सिचान॥"
"हौंही वौरी विरह वस, कै वौरो सब गाम।
कहा जानिये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाम॥"
"सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुएँ चलति उहि गाम।
विन वूझै विनही सुने, जियति विचारी वाम॥',
रह्यो पेंचि अंत न लह्यो, अवधि दुसासन चीर।
आली वाढ़त विरह ज्यों, पंचाली को चीर॥"
"विरह जरी लखि जींगननि, कह्यौ न डहि कै वार।
अरी आव भजि भीतरी, वरसत आज अँगार॥"

प्रेम का वर्णन भी अति उत्तम है। प्रेमी हृदय के भाव, प्रेम के स्वरूप, उसकी क्रीड़ाओं और मान का विचित्र चित्र[१] उतारा है।

सौंदर्य[२] तो इनका मुख्य विषय है। कोई बात छूट नहीं गई जिसको इन्होंने मनोहर रूप से वर्णन न किया हो। नैन और नयनोक्तियों, केश और जूड़ा, मुख, कपोल इत्यादि का तो कुछ कहना ही नहीं। भाल की बेंदी, कर्णफूल, बिछिया, मेंहदी, महावर आदि को भी सतसई सुशोभित करने का बड़ा गौरव है। आभूषणों की अनावश्यकता को जिस प्रकार बिहारी ने दर्शाया है शायद ही कोई वैसा कर सके। "इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा-सादा सच्चा रूप ही दर्शा दिया है", (मिश्रबंधु) और कोमलता को शिखर पर पहुँचा दिया है।

१—"इन दुखियां अँखिआंन को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं॥"
"पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।
आपु आपुही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥"
"क्यों बसिये क्यों निबहिए, नीति नेहपुर नाहि।
लगा लगी लोयन करें, नाहक मन बँधि जांहि॥"
सखी सिखावति मानविधि, सैनन बरजति बाल।
हरे कहै मो हीय मो, बसत बिहारीलाल॥"

२—"त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाय॥"
"तो तन अवधि अनूप, रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृग लागे रूप, दृगन लगी अति चटपटी॥"
"लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"

"विहारी की दृष्टि संसार भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और यह महाशय अपने मतलब की बात ख़ूब देख लेते थे।" (मिश्रबंधु)। मानव-जीवन का इनको इतना पूर्ण ज्ञान था और प्रत्येक भावना को तथा साधारण वस्तुओं के गूढ़ अर्थ को ये इतना समझते थे कि पाठक दंग होके रह जाता है। इन्होंने नागरी तथा ग्राम्य नायिकाओं का अच्छा वर्णन तो किया ही है। किन्तु, प्रसंगानुसार जिन वस्तुओं का वर्णन आया है उनसे कवि की अद्भुत निरीक्षण-शक्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। उपयुक्तता इनके उन विशेष गुणों में है जो इनको सर्वोच्च पद पर पहुँचाने का सामर्थ्य रखती है। "प्रकृति-निरीक्षण और उसके

"नेकु हँसौंही वानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकति चौंध में, परत चौंधि सी डीठि॥"
"तिय कित कमनैती पढ़ी, विनु जिह भौंह कमान।
चल चित बेझैं चुकति नहिं, वंक विलोकनि वान॥"
"छुटे छुटावै जगत तें, सटकारे सुकुमार।
मन बांधत बेनी बँधे, नील छवीले वार॥"
दीठि न परत समान द्युति कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात॥
"पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत यहिहेत।
दर्पन के से मोरचे, देह दिखाई देत॥
"मानहु विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिवे काज।
दग पग पोंछन को किए, भूषन पायंदाज॥"
"छाले परिवे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकति हिए गुलाब के, झँवां झँवायत पाय॥"
वरन वास सुकुमारता, सव विधि रही समाय।
पखुरी लगी गुलाव की, लाल न जानी जाय॥

यथोचित वर्णन में ये कविवर भाषा-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ हैं।" (मिश्रबन्धु)। पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं कि "विहारी का प्रकृति-पर्यवेक्षण वहुत ही वढ़ा-चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वे सचमुच पूरे पुरोहित थे" (दे० इनका षड्ऋतुवर्णन, तथा दो० १६४ और दो० १०५, १६६, १६१, १६२, १६७ इत्यादि)

कहीं कहीं इन्होंने ऐसे विचार और भाव प्रकट किये हैं कि "वड़े वड़े कवियों ने भी इनके सामने उनके लिए हाथ फैलाए हैं।"

"पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।
आप आप ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥"

पद्माकर ने कहा है "स्याम ही स्याम रही रटि कै, पुनि ह्वै गई मूरति नंदकिसोर की"

फिर "सायक सम घायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ विलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥"

दास लिखते हैं "कंज सकोच गड़े रहैं पंक मैं मीनन बोरि दियो दह नीरन"

और "नेह न नैनन को कछू, उपजी वड़ी वलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास वुझाय॥"

दूलह कवि कहते हैं "छलकै चहूँधा अश्रुजल को प्रवाह पै न, नेकु विरहागिनि की तपनि वुझाय है"

अंत में "बाल काहि लाली भई, लोयन कोयन माँह।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह॥

देव ने भी कहा है "काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे।"

(२) विहारी को जगत-व्यवहार का कितना अनुभव था इन दोहों से साफ़ मालूम होता है। सरल दोहों में उन्होंने कितना चातुर्य भर दिया है। एक एक छोटे से दोहे के आधार पर शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। इन दोहों को पढ़ते समय पाठक को कवीर, रहीम, गिरिधर आदि के पद्य स्मरण होने लगते हैं। कभी कभी तुलसीदास की चौपाइयाँ याद आ जाती हैं।

मरन प्यास पिँजरा पर्‌यो सुवा समय के फेर।
आदर दैदै वोलियत वायस वलि की वेर॥
जात जात वित होत है ज्यौं जिय में संतोष।
होत होत त्यौं होय तौ होय घरी से मोख॥
चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को व्यौपार।
नहिं जानत या पुर वसत धोवी और कुम्हार॥

(३) भक्ति और शांत[1] रस को भी विहारीलाल ने नहीं छोड़ा है। यहाँ पर उन्होंने अधिकतर सूरदास की तरह कविता की है। श्रीकृष्ण की प्रार्थना, उनको ललकारना, प्रेम में लीन हो जाना इत्यादि सूर ही का-सा है। कहीं कहीं तुलसीदास के ढंग पर भी दोहे लिखे हैं। दे० दो० २०६, २१३, २२३ इत्यादि।

पूरे ग्रंथ का अध्ययन करने पर स्पष्टरूप से विदित हो जाता है कि "पीयूषवर्षी कवि विहारीलाल" की गणना उन महाकवियों में होनी चाहिए जो सर्वोच्च पद के अधिकारी हैं। "शृंगाररस-वर्णन, पदविन्यास, चातुर्य, माधुर्य, अर्थगांभीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक वोलचाल आदि खास गुणों में वे अपना जोड़ नहीं रखते" (पं० पद्मसिंह शर्मा)। Encyclopædia Britannica (एन-

१—"यह जग कांचो कांच सो, मैं समुझ्यो निरधार।
प्रतिविंवित लखिए जहां एकै रूप अपार।"

साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका) में सतसई को "perhaps the most celebrated work of poetic art" "अर्थात् काव्य-कला में शायद सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ" की पदवी दी गई है। कविता-रचना में निपुण, रस, भाव, अलंकार इत्यादि में निपुण, प्रकृति-निरीक्षण में निपुण कविवर बिहारीलाल बड़े भारी पंडित भी थे। इनके पांडित्य का परिचय सतसई के पाठकों को आपही मिल जाता है। "उनका संस्कृत-साहित्य का पांडित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृत के महारथी कवियों के मुक़ाबले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है। संस्कृत-पद्यों की छाया पर रचना करके नवीन चमत्कार लाकर उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है।" (पं० पद्मसिंह शर्मा)

इसके अतिरिक्त वे और कलाओं[1] में भी प्रवीण थे। "गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीति-शास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था" (पं० पद्मसिंह-शर्मा) लोगों के विश्वासों से भी वे भली भाँति परिचित थे।

हिन्दी-साहित्य में बिहारीलाल का स्थान

बिहारी-सतसई के दोष-गुण-कथन के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि इसकी कविता किस श्रेणी में रखी जाय और इसका रचयिता कवि-समूह में किस पद पर बैठाया

१—"कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उदोत।
वंक बिकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होत॥"
"कहत सबै बेंदी दिये, आंक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥"
"पूस मास सुनि सखिन सों, सांई चलत सवार।
गहि कर बीन प्रवीन तिय, राग्यो राग मलार॥"

जाय। प्रश्न तो अति सरल है किन्तु उत्तर बहुत ही कठिन। तथापि प्रत्येक विचारशील और काव्य-प्रिय पाठक को कम से कम अपने लिए तो इसका उत्तर देना ही पड़ेगा। अतएव दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:—कविता की कसौटी तथा काव्य का मूल और अन्य कवियों की रचनाएँ।

काव्य की पूरी तथा यथोचित परिभाषा[1] देना तो प्रायः असम्भव है किन्तु इस अवसर पर दो चार मुख्य मुख्य बातों पर विचार करने से काम निकल सकता है। सबसे पहले स्मरण रखना चाहिए कि कवि एक महान् निरीक्षक है। प्रकृति, संसार और जीवन की छोटी सी छोटी वस्तु को देखता हुआ वह हृदय की अँधेरी से अँधेरी अगम कोठरी को आकस्मिकोद्भव (inspiration) के प्रकाश से सदैव देखता रहता है। जब उसके असाधारण बाह्य तथा अंतर्दृष्टि के सामने कोई वस्तु आती है तो वह उसे देख देख कर आनंद लाभ करता हुआ उसका वर्णन करने की चेष्टा करता है।[2] तब उसका देखा हुआ चित्र शब्दों

---

१ अँगरेज़ी भाषा में काव्य को poetry (पोएट्री) कहते हैं।

मौलिक अर्थ इस शब्द का है 'बनाना' 'रचना' अर्थात् नई सृष्टि करना। जान पड़ता है कि इसी अर्थ के अनुसार ऐरिस्टॉटल Aristotle ने आविष्कार (invention) को काव्य का एक आवश्यक आधार समझा था। किंतु, यह विचार करने की बात है कि ग्रीक भाषा में काव्य-कला को 'रचना' कहने के पहले 'गाना' कहते थे। वस्तुतः काव्य को संगीत कह सकते हैं। और संगीत ही नहीं काव्य को चित्र भी कह सकते हैं "Poetry is a speaking picture and painting is a mute poetry"

काव्य एक बोलता हुआ चित्र है और चित्रकारी एक मूक काव्य है।

२ अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक कार्लाइल (Carlyle) ने कहा है कि

में प्रकट होता है। यदि कवि वहुत ही उच्च कोटि का हुआ तो उस दृश्य को पूर्णरूप से चित्रित करने में भाषा अपना असामर्थ्य स्वीकार कर लेती है। शब्द उस दृश्य के सामने नीचे गिर जाते हैं। उससे नीची श्रेणी के कवि के शब्द चित्र के समान रहते हैं। थोड़ा और नीचे आने पर शब्द ही बाज़ी मार ले जाते हैं। भाषा रूप में प्रकाशित हो जाने पर वही निरीक्षित तथा उपलब्ध दृश्य या भाव इत्यादि काव्य के नाम से प्रतिष्ठित होता है[१]।

जहाँ तक ज्ञात होता है सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी

कवि और ईश्वरदूत (prophet) दोनों ही विश्व के पवित्र रहस्य में प्रवेश किये हुए हैं और दोनों का उद्देश्य हैं कि हम लोगों पर उसको प्रकाशित करें। भेद यही है कि ईश्वरदूत नैतिक पक्ष (moral side) को बतलाता है (अर्थात् क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए, क्या बुरा है और क्या भला है) और कवि सौंदर्य पक्ष (æsthetic side) को (अर्थात् क्या रुचिकर है, क्या सुंदर है, क्या प्रेय है इत्यादि को)

१ विचार प्रकट करने की दृष्टि से कविता तीन प्रकार की हो सकती है (१) जिसमें कवि स्वयं अपने विचार तथा अनुभव इत्यादि प्रकट करे—ऐसी कविता को अँगरेज़ी भाषा में (lyric) लिरिक कहते हैं और हिन्दी में गीतिकाव्य कह सकते हैं, क्योंकि प्राचीन युनान में इस प्रकार का काव्य पहले पहल (lyrie) लायर नामक बाजे पर गाया जाता था—(२)जिसमें कवि किसी अवस्था वा परिस्थिति में किसी अन्य विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों के विचार, भाव इत्यादि प्रदर्शित करे। ऐसी कविता को अँगरेज़ी में (dramatic) ड्रैमेटिक कहते हैं, अर्थात नाट्य काव्य (३) जिसमें कवि इन दोनों के बीच में रहे—अर्थात विशेष अवस्थाओं और परिस्थितियों में अन्य व्यक्तियों के विचार, भाव कार्य इत्यादि का चित्र कथारूप में खींचते हुए अपने विचारों को प्रकट करे

ने रामचरित-मानस में काव्य की जो परिभाषा की है वह सर्वोत्तम है। उन्होंने लिखा है।

"हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जो बरखइ वर बारि बिचारू, होहिं कवित मुकुता मणि चारू॥"

इन दो चौपाइयों में कविता का पूर्ण स्वरूप दे दिया गया है। भावार्थ इसका यह है कि जब एक अपरोक्ष शक्ति (आकस्मिकोद्भव) मति में सुन्दर विचार प्रवेश कराती है तब कविता की उत्पत्ति होती है। यह कविता अगाध विस्तृत हृदय में पड़ी रहती है। (ढूँढ़नेवाले ढूँढ़ लें और उसका उत्तम प्रयोग करें) इस परिभाषा से कविता का सार प्रकट हो जाता है। इससे सुगमतर और शुद्धतर परिभाषा मिलना अति कठिन है। विश्लेषण करने पर इसमें कविता के सभी तत्त्व दीख पड़ते हैं। पहले

और काव्य भर में उसी का विशेष दृष्टि-कोण दीख पड़े—ऐसी कविता को (epic) एपिक अर्थात् महाकाव्य कहते हैं।

भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न भाषाओं में इन तीनों में से किसी एक या अधिक का प्राचुर्य तथा प्राबल्य रहता है। हिन्दी भाषा में प्रथम प्रकार की कविता अधिक और उच्चकोटि की है (दे० पृ० ८ पादटीका २), तीसरे प्रकार की कविता है तो बहुत उच्चकोटि की किंतु अधिक नहीं है—द्वितीय प्रकार की कविता का प्रायः अभाव ही है।

कविवर बिहारीलाल प्रथम प्रकार की कविता के रचयिता थे—बहुत सी भाषाओं में ऐसा देखा जाता है कि नाट्यकाव्य और महाकाव्य के रचयिता ही सर्वोत्कृष्ट कवि समझे जाते हैं—हिन्दी में भी महाकाव्य रामचरितमानस-प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास ही का स्थान सर्वोच्च है—किंतु गीतिकाव्य के कवियों का पद भी बहुत ऊँचा हो सकता है जैसे अँगरेज़ी के (Keats) कीट्स और (Shelley) शेली इत्यादि का है—बिहारीलाल भी बड़े उच्चकोटि के गीतिकाव्य रचयिता थे।

तो हृदय इसका स्थान है और हृदय ही में सभी भाव रहते हैं। फिर मति में इसकी उत्पत्ति है अर्थात् बुद्धि और विचार के स्थान से यह निकलती है। अतः उच्च कोटि की कविता के लिए प्रबल बुद्धि, उच्च मति और सारगर्भित विचार आवश्यक हैं। तीसरे, कविता हर एक आदमी किसी समय अथवा कोई एक आदमी हर समय नहीं बना सकता, क्योंकि स्वाती का जल हर स्थान पर अथवा किसी एक स्थान पर हर समय नहीं बरसता। चौथे, सब कुछ होते हुए भी एक दैवी शक्ति अर्थात् सरस्वती की आवश्यकता है। उसके बिना लाख प्रयत्न करने पर भी कविता नहीं बन सकती। साधारण भाषा में इस शक्ति के प्रभाव को आकस्मिकोद्भव कह सकते हैं। इस परिभाषा से अँगरेज़ी की कहावत सिद्ध होती है कि कवि उत्पन्न होता है बनाया नहीं जाता (a poet is born not made)। इस परिभाषा में एक गुण यह भी है कि कविता भाषा पर निर्भर नहीं की गई है—भाषा सरल हो अथवा कठिन, गद्य हो अथवा पद्य, और पद्य भी चाहे तुकांत हो अथवा अतुकांत, उसमें कविता पाई जा सकती है। यह और बात है कि कवियों ने प्रायः सर्वदा पद्य ही में कविता की है।

कविता की भाषा साधारणतः पद्य होती है। उच्च कोटि की कविता मधुर और हृदयग्राही होती है—माधुर्य कभी भाषा की सरलता, कभी उपयुक्तता, कभी स्वाभाविकता और कभी अलंकार इत्यादि पर निर्भर होता है।

इन बातों पर ध्यान रखते हुए बिहारी-सतसई के निर्माण-कर्त्ता को महाकवियों के मध्य स्थान देने में कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती। अब उपर्युक्त कसौटी को सामने लाइए।

(१) निरीक्षण।

(क) प्रकृति, "He is perhaps at his best in his description of natural phenomena, as when he describes the scent laden breeze under the guise of a way-worn pilgrim from the south" *मिश्रबंधु भी लिखते हैं, "इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। इनका षड्ऋतु-वर्णन, इनके काव्य की उत्कृष्टता का पूरा परिचय देता है।"

(ख) संसार, "विहारी की दृष्टि संसार भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी" (मिश्रबंधु) जगत् के वास्तविक स्वरूप और उसकी क्रीड़ाओं से विहारीलाल भली भाँति परिचित थे।

(ग) जीवन, विहारीलाल को मनुष्य-जीवन का कितना ज्ञान था सतसई का प्रत्येक दोहा बतला रहा है। स्त्री-पुरुष का व्यवहार, सदाचार, दुराचार, प्रेम, लोभ, वैराग्य, भक्ति इत्यादि जीवन के प्रत्येक रूप का चित्र उन्होंने उतारा है।

(घ) हृदय कोठरी, यह कोठरी एक अति विशाल चित्रशाला है जिसमें साधारण दृष्टि से अगोचर नाना प्रकार के चित्र सृष्टिकर्ता ने रख छोड़े हैं। संसार के प्रायः सभी महान् पुरुष इसी अद्भुत और दुर्गम चित्रालय के किसी न किसी चित्र को लेकर प्रकाशित करते और अपने अपने ढंग से संसार का उपकार किया करते हैं। धर्म-प्रचारक, समाज-सुधारक, तत्त्व-विचारक, राजनैतिक नेता तथा अन्य पूजनीय जन सभी

* F. E. Keay in his Hindi literature. के साहब कहते हैं—"उनका सर्वोत्कृष्ट वर्णन प्राकृतिक बातों का है। जैसे जब वह सौरभित समीर को दक्षिण से आते हुए थके यात्री के रूप में वर्णन करते हैं।"

विहारीलाल का दोहा दोहा नं० १६४ की टीका में दिया हुआ है।

इसी कोठरी में घूमते हैं। कभी कोई चित्र हाथ आगया तो प्रसन्न हो गये और साधारण मनुष्यों को दिखलाने लगे। कवि-समाज भी इसी काम में लगा है। उसका ढंग दूसरा है, परंतु वस्तु वही है। चित्रों का अपार आधिक्य देखकर कविता के आचार्यों ने कोठरी को कई खंडों में विभाजित कर दिया है। एक ओर प्रेम का स्थान है, एक ओर वीरता का, एक ओर हास्य का, एक ओर करुणा का, एक ओर प्रीति का, और एक ओर वैराग्य का इत्यादि। इन्हीं भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न रसों[1] का अनुभव होता है।

बिहारी मुख्यतः शृंगाररस[2] के कवि हैं।

इनके अन्य रस-संबन्धी दोहे भी उत्कृष्टता में बड़े से बड़े कवि की रचनाओं के सामने ठहर सकते हैं। किंतु शृंगार-रस के दोहे इनके अतुल्य से जान पड़ते हैं। शरीर की शोभा, सहज

---

१ रस का साधारण अर्थ स्वाद है, जैसे मीठा रस, खट्टा रस, इत्यादि। काव्य में भी यह एक प्रकार का स्वाद ही है। "पाठकों या दर्शकों को काव्यों अथवा अभिनयों में जो अनिर्वचनीय और लोकोत्तर आनंद प्राप्त होता है साहित्य-शास्त्र के अनुसार वही रस कहलाता है" (शब्दसागर) "रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य और निर्वेद इन नौ स्थायी भावों के अनुसार नवरस माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, और शांत (शब्द सागर)। कुछ लोग 'शांत' को निकाल कर आठ ही रस मानते हैं और कुछ 'वात्सल्य' को मिलाकर दस मानते हैं।

२ शृंगार-रस को आदि अथवा आद्यरस भी कहते हैं। अनुराग इसका स्थायीभाव है। यह स्त्री-पुरुष के बीच में परस्पर संभोगेच्छा-जनित भाव है (बंगला भाषारअभिधान)

सौंदर्य तथा अलंकृत गात, प्रेम-क्रीड़ा, और विरह इत्यादि का वर्णन अति हृदयग्राही है।

(२) आकस्मिकोद्भव, यह उच्च कोटि की कविता की एक मुख्य पहिचान है। इसी से किसी ने अँगरेज़ी में कहा भी है कि 'Poet is born not made' (कवि उत्पन्न होता है बनाया नहीं जाता) लेखनी और लेख-पत्र लेकर बैठने ही से कविता नहीं बन जाती। आकस्मिकोद्भव तथा काव्यपूर्ण हृदय वा ईश्वर की प्रेरणा के बिना बिहारी-सतसई के दोहे नहीं लिखे जा सकते थे। दोहे नं० ३, ४, ४३, ५८, ६२, ८१, २०६, २११ इत्यादि के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारीलाल किस कोटि के कवि थे।

(३) अब भाषा की ओर ध्यान दीजिए। उच्च श्रेणी की कविता की भाषा मर्मभेदी होती है और थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ होता है। ये दोनों बातें बिहारी-सतसई में पूर्णरूप से पाई जाती हैं। यही कारण है कि सतसई इतनी कठिन हो गई है। इसका ठीक उल्था करना तो असंभव ही है। ग्रीयर्सन साहब लिखते हैं "As any attempt of mine (at translation) would spoil the original by weakening its conciseness and by rounding off the polished corners of its many jewels, I shall not venture to give here any examples in English of its beauties." दोहा नं० ८०, १४६, १६० इत्यादि को देखिये।

---

१ (अनुवाद करने का) मेरा किसी प्रकार का प्रयत्न मूल की संहति को दुर्बल करके और उसकी अनेक मणियों के रँगे हुए कोनों को बराबर करके उसको नष्ट कर देगा, अतः मैं अँगरेज़ी में इसकी सुंदरताओं का कोई उदाहरण देने का साहस न करूँगा।

दूसरा गुण भाषा की सरसता तथा शब्दों का मनोहर प्रयोग है। इसमें भी बिहारीलाल बहुत बढ़े-चढ़े हैं, ग्रीयर्सन साहेब लिखते हैं।

"The elegance, poetic flavour and ingenuity of expression in this difficult work are considered to have been unapproached by any other poet"[१] दूसरे स्थान पर "admirable polish and completeness of the whole"[२] की प्रशंसा करते हैं।

तीसरा गुण भाषा का अलंकार होता है। इस संबंध में भी बिहारीलाल का बड़ा उच्चस्थान है।

अब अन्य कवियों से बिहारीलाल की तुलना करनी है। साहित्य में शृंगार-रस के कवियों में देव, मतिराम, केशव, तोष, दास, पद्माकर आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से हर एक के उदाहरण स्थान स्थान पर टीका में दिये गये हैं। इन छः महाकवियों में से अंतिम तीन[३] तो सर्वसम्मति

---

१ ऐसा समझा जाता है कि इस कठिन ग्रंथ के लालित्य, काव्य-रस, और वर्णन-चातुर्य को कोई दूसरा कवि नहीं पहुँच सका है।

२ प्रशंसनीय चमत्कार और कुल की पूर्णता।

३ पद्माकर भट्ट (१७५३-१८३३ ई०) बांदा के रहनेवाले थे। इनकी कविता में अनुप्रास बहुतायत से मिलता है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ जगद्विनोद है जो १८१० ई० में लिखा गया था। तोषनिधि, १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि, इलाहाबाद ज़िले के रहनेवाले थे। इनके एक ग्रंथ का नाम सुधानिधि है

भिखारीदास, जो १८ वीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध कायस्थ कवि थे, बुँदेलखँड के थे। किसी महाशय ने बिहारी और दास की तुलना करते हुए दास को बहुत उच्च स्थान दिया है (माधुरी—दिसम्बर १९२६)। वास्तव

से विहारी के नीचे हैं। रही बात प्रथम तीनों की। तीनों को बारी बारी देखा जाय। केशवदास (१५५५-१६१७ के साहेब लिखते हैं "The poetry of Keśavdās is not easy reading, but there is no doubt of his being a poet of great skill, and his name is to be reckoned among the foremost" (केशवदास की कविता पढ़ने में सहज नहीं है। किन्तु उनके एक बड़े कौशल-पूर्ण कवि होने में कोई संदेह नहीं और उनका नाम सर्वश्रेष्ठों में होना चाहिए) इनको मिश्रबंधु ने जॉन मिल्टन (John Milton) की पदवी दी है। केशवदास की कविता सराहनीय तो है किन्तु उसमें विहारी की स्वाभाविकता नहीं और न उनके जैसे मर्मभेदी पद ही हैं। केशव उतने ऊँचे नहीं पहुँच सके। हाँ वर्षा इत्यादि का वर्णन इनका अच्छा है, लिखते हैं—

"केसव पावस काल किधौं अविवेक महीपति की ठकुराई"।

में यह प्रशंसा यथार्थ नहीं ज्ञात होती, जैसा दोहों के अर्थ से प्रकट है (दे॰ दो॰ सं॰ १२, ६०, १३१)।

विक्रम साही (१७८५-१८२८) ने बिहारीलाल का अनुकरण करके एक सतसई लिखी है। उसके भी उदाहरण इस पुस्तक में दिये गये हैं। विहारी और विक्रम में बड़ा अंतर है—

बाबू हरिश्चंद (१८५०-१८८४ ई॰) ने भी बड़े उच्चकोटि की कविता की है, और इनकी भाषा सरस भी है। किन्तु इनके भावों में विहारी की गूढ़ता तथा भाषा में उनका अर्थ-भंडार नहीं है। विद्यापति भी (१४ वीं १५ वीं शताब्दि) शृंगाररस के अच्छे कवि थे। किन्तु विहारी के नीचे ही उनका स्थान होगा।

सेनापति और रसखान भी हिन्दी के अच्छे कवियों में हैं किन्तु इनकी तुलना विहारी से नहीं हो सकती।

विहारी से अभी बहुत दूर हैं, कविप्रिया में लिखते हैं—

"कोमल अमल चल चीकने चिकुरचारु
चितयेते चित चकचौंधि मत केशौदास।
सुनहु छबीली राधा छुटे ते छुवै छुवानि
कारे सटकारे हैं सुभाव ही सदा सुवास"

इत्यादि,

"मिलि-मालती की माल लाल डोरी गोरी गुहै
वेणी पिक वेणी की त्रिवेणी सी बनाई है",

सरिता, सागर, लता, वृक्ष आदि का मिलना वर्णन करके

"इहि रीति रमन रमनीन सों रमन लगे मन भावने।
पिय गमन करन की को कहै गमन न सुनियत सावने"

रसिक प्रिया में लिखते हैं

"विन गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाच्छ वान यहै अचरजु आहि"—

केशवदास के ये बड़े ही उत्कृष्ट पद विहारी के दोहों के सामने तनिक भी नहीं ठहर सकते। न तो भाषा में वह माधुर्य है न थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ ही है और न वैसे भाव ही हैं। कहीं-कहीं कुछ सादृश्य होने पर भी केशव की कविता विहारी के सामने नीरस लगती है।

सहज सचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि, विथुरे सुथरे वार॥
छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे सुकुमार।
मन वांधत वेनी वँधे नील छबीले वार॥
तिय कित कमनैती पढ़ी विनु जिह भौंह कमान।
चल चित वेझो चुकति नहिं वंक विलोकनि वान॥

मतिराम (१६१७-१७१६ ई० एक बड़े प्रसिद्ध कवि हो गये हैं, इनकी कविता बड़ी सरस तथा हृदय-ग्राही है। के साहेब ने लिखा है " As a poet he is famed for the purity and sweetness of his language, the excellence of his similes, and for his descriptions of the dispositions of men" १ इनके पद्य मधुर तथा भाव-पूर्ण हैं और उपमाएँ भी अच्छी हैं, लिखते हैं।

' ता वन की वाट कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है।"
"विन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं
कहौ लाल इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं।"
"पिय आयो नव बाल तन बाढ़्यो हरष विलास
प्रथम वारि बूँदन उठै ज्यों बसुमती सुवास"
"नाह सनेह समुद्र मैं बूड़ि जात सब दोष"

इत्यादि

भाषा की मधुरता में इनका निस्संदेह बड़ा उच्च स्थान है, और विहारी की भाषा मधुर होते हुए भी अनेक स्थानों में मतिराम से हार मान जाती है। इसका एक कारण यह भी है कि मतिराम की भाषा सरल है। किन्तु साथ ही साथ उसमें विहारी के बराबर अर्थ भी नहीं है, विहारी के विरह-वर्णन तथा शरीर-शोभा-वर्णन के सामने मतिराम की कविता फीकी पड़ जाती है

(दे. दो. ७, २१, २६, ८३, ११४, १४१, ३२६ इत्यादि)

एक बड़ा अंतर दोनों महाकवियों में यह है कि विहारीलाल

१ कवि-रूप में वे भाषा की शुद्धता और मधुरता, उपमाओं की उत्कृष्टता और मनुष्य के भावों के वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं।

किसी वात का स्वाभाविक रीति से कृत्रिमता के बिना वर्णन करते हैं। मतिराम ने बहुधा शब्दों के द्वारा तथा साज-शृंगार की सहायता से अथवा कुछ मिला-जुला के चित्रों को प्रिय बना दिया है।[१] विहारी के चित्र स्वयं संपूर्ण और सुहावने हैं।

उपमा[२] में विहारी का सामना करने के लिए गोस्वामी तुलसीदास से नीचे पदवाले कवि को साहस नहीं होना चाहिए। बिहारी अलंकारों में बहुत ही बढ़े-चढ़े हैं, उनके एक एक पद में अनेक अलंकार भरे हैं, मानुषो प्रकृति का वर्णन भी मतिराम ने अच्छा किया है, किन्तु मनुष्य-हृदय में जितनी गहरी विहारी की दृष्टि पहुँची है उतनी इनकी नहीं पहुँच सकी।

(दे. दो. ११७ के आगे)

मतिराम की प्रशंसा में यही कहा जा सकता है कि "Many of his dohas are considered equal to those of Bihari Lal"[३] केवल इन्हीं की सतसई बिहारी-सतसई के निकट पहुँच सकती है। क्या यह कोई कम प्रशंसा है। तुलना के लिए मतिराम के ग्रंथों के कई पद टीका में दिये गये हैं। उनसे स्पष्ट हो जाता है कि मतिराम और बिहारी में बड़ा अंतर है।

देवदत्त.—(१६७३-१७४५ ई०) इटावा के रहनेवाले थे। के साहेब कहते हैं "In his handling of rhymes, his use of attributes, his drawing of comparisons, his knowledge

---

१ रसराज के नायिकाभेद तथा अभिसारिका-वर्णन में अनेक उदाहरण मिलेंगे।

२ दे० दो० सं० ८, ६१, १२७, १६८ इत्यादि।

३ "उनके बहुत से दोहे बिहारीलाल के दोहों के बराबर समझे जाते हैं"। अर्थात् बिहारी के दोहों से बढ़कर तो कोई है ही नहीं, उनसे कम बहुत से हैं।

of the sayings current amongst men, and his descriptions of heroines who represent women typical of various parts of India, he is considered to have shown the greatest skill." (भावार्थ—पद्य-रचना में, विशेषणों के प्रयोग में, तुलनाएँ करने में, प्रचलित कहावतों के ज्ञान में और हिन्दुस्तान के भिन्न भिन्न देशों की स्त्रियों के वर्णन में इन्होंने सबसे अधिक कौशल दिखलाया है)। देव की भाषा बहुत ही मनोहर है। इसकी समता बिहारीलाल की भाषा भी नहीं कर सकती। इसमें एक कारण यह भी है कि देव ने बहुत से मधुर छंदों का प्रयोग किया है। बिहारी ने केवल दोहा ही दोहा लिखा। और फिर देव ने बहुत से ग्रंथ भी बनाये हैं। बिहारी की केवल सतसई ही है। देव की कविता का उदाहरण देखिए।

"रंगराती हरी हहराती लता,
झुकि जाती समीर के झूकन सों"
"आई बरसाने ते बोलाई वृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई"
"पतिव्रतव्रती यै उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनों"
"सोहति चूनरि स्याम किसोरी की,
गोरी गुमान भरी गजगोनी"

इत्यादि

मिश्रबंधु लिखते हैं—

"किसी अन्य कवि की कविता में इतने अनुप्रास और यमक तो हैं ही नहीं, प्रायः इतने बढ़िया भाव भी नहीं पाये जाते।"

अब देव के गुणों की बिहारी के गुणों से तुलना कीजिए। देव जीते भाषा के माधुर्य में, बिहारी जीते उसकी

संहृति (Conciseness) और अभिव्यंजन (Suggestiveness) में। अब वर्णन पर ध्यान दीजिए। जहाँ विहारी ने केवल सेतसारी ही से काम लेकर आभूषणों को पायंदाज़ बना रखा है, शरीर के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन किया है और अधिकतर थोड़े शब्दों में हृदय के गूढ़ भावों को दर्शाने का प्रयत्न किया है वहाँ देवजी ने नायिका को सुसज्जित, आभूषित करके एक कृत्रिम रंग चढ़ा दिया है और पदों में मनोहरता पैदा कर दी है। लिखते हैं "मोतिन की झालरें झमक झुमकारी सारी इन्दिरा मन्दिर दुति देव कँदरप सी" दूसरी विशेष बात देव में यह है कि वह देश देश की स्त्रियों का बहुतही अच्छा और यथार्थ वर्णन करते हैं। इसमें इनकी निरीक्षण-शक्ति अवश्य प्रमाणित होती है। किंतु विहारी की आदर्श नायिका कोई और ही चीज़ है। इसमें संदेह नहीं कि देव की कविदृष्टि चारों ओर बहुत दूर तक जाती है। किंतु विहारी के बराबर गहरी नहीं जाती। निम्न-लिखित पदों को विहारी के उसी संबंध के दोहों के साथ पढ़ने से प्रतीत हो जाता है कि विहारी का काव्य एक ऊँचे पर्वत की चोटी पर है और देव का काव्य उससे नीचे हरे भरे सुहावने मैदान पर है।

"देखि न परत देव देखि देखि परी बानि देखि देखि दूनी दिख साध उपजति हैं," "देखे बिना दिखसाधनहीं मरें देखुरी देखतहूँ न अघैये" भ० वि०

"जेठी बड़ीन में बैठी वहू उत
पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसि की मुदरी दृग दै, पिय को
प्रति बिम्ब लखै दुख मोचन।" भ० वि०
"कल न परति कहूँ ललन चलन कह्यो,
विरह दवा सों देह दहकै दहक दहक। भ० वि०

"प्रीतम चलत सुनि चली न फिरि सोस
आगे आँसू चलि आयेते छिपाये छल छंदही"। भ० वि०

"आवन सुन्यौ है मनभावन को भामिनि
सुआँखिनि अनन्द आँसू ढरकि ढरकि उठैं।
देव दृग दोऊ दौरि जाति द्वार देहरी लौं
केहरी साँसे खरी खरकि खरकि उठैं"। इ० भ० वि०

"प्यौ सुधि द्यौस गँवावति देवजू,
जामिनि जाम मनौ जुग चारो।
नीरज नैनी निहारिये नैनन
धीरज राखत ध्यान तिहारो।" दे० च०

देव ने इतनी अधिक कविता की है कि एक एक बात पर वे पृष्ठों लिख गये हैं। इसलिए बिहारी से तुलना करना कठिन हो जाता है। प्रेम, नवल प्रेम का प्रभाव, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है। सब मिलाकर एक बड़ी सुन्दर अलंकृत कविता तैयार होगई है। किंतु बिहारी के उत्कृष्ट दोहों के जोड़ तोड़ का पद नहीं मिलता। बिहारी की कविता हृदयरूपी ऊँची गंगोत्री से निकलती हुई सुरसरि की पतली धारा है। देव की कविता मंद धार से बहती, नाना प्रकार के जलों से अपने को सुशोभित और विस्तृत करती, खेतों को सींचती हुई मैदान की गंगा है। दोनों में किसका महत्व अधिक है, किसको उच्च पद दिया जाय यह निर्णय करना अति कठिन है। किंतु केवल कवित्व की दृष्टि से देखने पर और पदों की गूढ़ता अथवा गहराई नापने पर बिहारी को ऊँचा ही रखना पड़ेगा। के साहेब ने लिखा भी है "The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry is Behari Lal

Chaube." (काव्य-कला के संबंध में सबसे प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक विहारीलाल चौबे हैं) ग्रीयर्सन साहेब लिखते हैं "The elegance, poetic flavour, and ingenuity of expression in his difficult work are considered to have been unapproached by any other poet." (दे० पृ० ४३) अतः विहारीलाल को शृंगार-रस के कवियों में सर्वोच्च स्थान देना अनुचित न समझा जायगा। सूरदास और तुलसीदास के संबंध में कुछ लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। इन दोनों ने काव्य, भक्ति और धर्म का ऐसा मनोहर संयोग तैयार किया है कि तुलनात्मक समालोचना में इनके पदों से भलेही तुलना कर लें और उनको ऊँचा या नीचा स्थान दे लें, किंतु भारत के इन दो महाकवियों का स्थान सदैव सर्वोच्च रहेगा। विहारी कहीं कहीं इन दोनों से बढ़े हैं, इतना मान लिया जा सकता है, तथापि इनका पद इन महात्माओं से नीचे ही रहेगा। किन्तु अन्य कवियों को कविता की उत्कृष्टता में इनकी बराबरी करने का साहस न करना चाहिए।

सतसई

" 'सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृत के 'सप्तशती' और 'सप्तशतिका' शब्दों के रूपान्तर हैं, जो सात सौ पद्यों का 'संग्रह' इस अर्थ में कुछ योगरूढ़ से हो गये हैं।" पाठक जानते हैं कि श्री मद्भगवद्गीता भी ऐसा ही ग्रंथ है, और दुर्गासप्तशती का तो नाम ही स्पष्ट है। किन्तु इनसे और विहारी-सतसई से कोई भी संबंध नहीं है। शृङ्गार-रस की सप्तशतियों में संस्कृत और प्राकृत भाषा की दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, सात-वाहन-संगृहीत

'गाथा सप्तशती' और गोवर्धनाचार्यप्रणीत 'आर्यसप्तशती' "ये दोनों ही अपने अपने रूप में निराली और अद्वितीय हैं। सदा से सहृदयों के हृदय का हार रही हैं" किन्तु पंडित पद्मसिंह शर्मा ने उदाहरण सहित सिद्ध किया है कि विहारी सतसई का पद सर्वोच्च है। हिन्दी-साहित्य में भी अनेक सप्तशतियाँ हैं, किन्तु उनमें दो बहुत प्रसिद्ध हैं—तुलसी-सतसई और मतिराम-सतसई। रहीम और विक्रम ने भी सतसइयाँ लिखी हैं, पढ़ने पर ज्ञात हो जाता है कि विहारी-सतसई की बात ही कुछ और है।

विहारी-सतसई है तो सतसई किन्तु ठीक सात ही सौ दोहे इसमें नहीं हैं। निश्चित रूप से उनकी संख्या नहीं बतलाई जा सकती। आज़मशाही संग्रह में ७२६ दोहे हैं। मिश्रबंधुओं ने भी यही माना है। परन्तु मानसिंह की टीका और अन्य प्रतियों के आधार पर श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ने ७१३ ही दोहों की टीका की है। कुछ लोग ७२६ से भी अधिक और कुछ ७१३ से भी कम मानते हैं।

इस पुस्तक में केवल २२४ दोहे हैं, इनका पाठ प्रायः सर्वत्र विहारी-रत्नाकर से लिया गया है। किन्तु पाठान्तर भी कहीं कहीं दिखलाये गये हैं। इनका क्रम उपर्युक्त (पृ० २४) विभागों पर निर्धारित है। अर्थ किये हुए दोहों के अतिरिक्त जो दोहे लिखे गये हैं, वे बहुधा लाला भगवानदीन की विहारी-बोधिनी के पाठ के अनुसार हैं। पाठान्तर में स्मरणीय है कि रत्नाकरजी ने बहुधा 'इ' दिया है जहाँ 'य' भी चल सकता है। (जैसे सोय अथवा सोइ) कुछ शब्दों को उकारान्त कर दिया है जहाँ अकारान्त भी पर्याप्त है। जैसे स्यामु और स्याम, और कुछ क्रियाओं में ऐ तथा औ लिखा है जहाँ ए तथा ओ भी ठीक हैं। जैसे परै और परे, अथवा कौ और को।

मेरी* भव-बाधा हरौ, राधा[१] नागरि[२] सोइ।
जा तन की झाँई[३] परैं, स्याम हरित-दुति[४] होइ ॥१॥

*"यह दोहा बिहारी की प्रतिभा का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है" (बिहारी-रत्नाकर) सतसई ऐसे ग्रंथ के लिए कितना उपयुक्त दोहा है। मतिराम ने भी अपनी सतसई के मंगलाचरण में राधा ही की वन्दना की है। लिखते हैं।

मो मन तम-तो महि हरो, राधा को मुख चन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं, नँद-नंदन आनन्द ॥ —देखिए

कितना अन्तर है, टीकाकारों ने बिहारी के उक्त दोहे के अनेक अर्थ निकाले हैं। झांई शब्द से परछांही, झलक और ध्यान का, स्याम शब्द से कृष्ण और श्याम रंग वस्तु पातक इत्यादि और हरित दुति से हरे रंगवाला, हरा-भरा और हतद्युति का अर्थ निकाल कर कई तरह से टीका की है। इन अर्थों से बिहारी का काव्य-कौशल ही प्रकट होता है। एक महाशय ने राधा, नागरि, सोय से सोंठ, नागरमोथा, सोया का मतलब समझ कर इस दोहे को बदन पर झांई पड़ने से श्याम वर्ण पिटिका की दवाई का नुस्खा कहा है।

१. राधा = जिसकी आराधना की जाय (राध = आराधना, साधन, अ स्त्रीवाच्य); ह्लादिनी शक्ति, (वैष्णवतंत्र) आनन्ददायिनी शक्तिमती (रंज = आनन्द देना, ध = धारण करनेवाला)

२. नागरि = नगर निवासिनी वा चतुर, निपुण स्त्री। यह शब्द उसी तरह निकला है जैसे अँगरेज़ी में citizen, civil, politic इ० शब्द निकले हैं।

३. झांई = (छाया से) = परछाहीं, छाहीं, झलक और ध्यान का अर्थ भी हो सकता है।

४. हरितद्युति = हरी गई हो द्युति (दीप्ति, शोभा) जिसकी (बहुव्रीहि समास) हरा भरा (प्रफुल्लित गात) और हरे रंग का अर्थ भी हो सकता है।

अर्थ—जिनके (गौर) शरीर की परछाँई पड़ने से (सहज सुन्दर) श्रीकृष्ण भी तेजहीन, शोभारहित हो जाते हैं वही नागरि राधिका मेरी सांसारिक बाधाओं[1] को दूर करो (वा करें)—

[इस दोहे के बहुत से अर्थ हो सकते हैं। और एक से एक बढ़ कर। किन्तु उक्त अर्थ सबसे अधिक जँचता है और प्रसंगानुसार है। "हरौ" शब्द के आ जाने से 'हरित' का अर्थ "हरा गया, हृत" करना कवि के शब्दप्रयोग की उत्कृष्टता दिखलाता है। यदि यह अर्थ न करें तो हरने की शक्ति ढूँढ़नी पड़ेगी।

कृष्ण, जो सौंदर्यस्वरूप हैं, राधिका के सामने फीके पड़ जाते हैं, उनकी श्यामता इनकी गोराई के सामने छिप जाती है। ऐसी राधा बाधाओं की कालिमा को तुरन्त ही दूर कर देंगी। राधा को नागरि कहना भी ऐसे ही अर्थ के साथ ठीक हो सकता है। स्मरण रहे कि राधिका की परछाँई में कृष्ण के छिप जाने की बात विहारी ने एक दोहे में कही भी है।

"मिलि परछाहीं जोन्ह सों, रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही, चले गली मैं जात॥"

एक और कवि ने कहा है—

"गर्व करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
आपन रूप निहारहु सिय कै छाँह॥

(तुलसी)

---

1. जीवन के अनेक विघ्न, विशेषतः जो सतसई-निर्माण में कठिनाइयाँ उपस्थित करें।

यों भी अर्थ कर सकते हैं, "जिसके झाँई-मात्र से श्रीकृष्ण हरे-भरे (प्रफुल्लित) हो जाते हैं, वा हरे रंग के हो जाते हैं (नील में पीत रंग मिलने से हरा हो जाता है) वह नागरि राधा मेरी भवबाधा हरो वा हरे]

अलंकार = काव्यलिंग, (उत्तरार्द्ध की युक्ति बाधा हरने की बात का समर्थन करती है) भिन्न भिन्न अर्थ करके हेतुक अलंकार और अत्युक्ति भी कह सकते हैं।

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली उरमाल।
इहिं बानक[1] मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल[2] ॥२॥

अर्थ—हे आनन्द-केलि करनेवाले मेरे प्यारे (श्रीकृष्ण) तुम सदा मेरे मन अर्थात् हृदय में ऐसा रूप (गोपवेष) धारण करके वास करो जिसमें सिर पर मुकुट (अर्थात् मोर मुकुट) कमर में जाँघिया, हाथ में बाँसुरी, और उर पर माल (अर्थात् वनमाल) है। [हृदय में वास करने की प्रार्थना अपने आराध्य देव से विशेषतः श्रीरामचन्द्र और कृष्ण से अनेक कवियों ने की है। मतिराम ने इसी प्रकार एक दोहा बनाया है।

"मुंज गुंज के हार उर, मुकुट मोर पर पुंज।
कुंजविहारी विहरिये, मेरेई मन-कुंज ॥"—देखिए विहारी

से कितना नीचे रह गये हैं। एक तो उतनी बात भी नहीं कही दूसरे शब्दों का माधुर्य भी कम हो गया। और बिहारी का

---

१. बानक वा बानिक (बनना वा बनाना से) = बनाव, रूप, वेष "बानिक तैसी बनी न बनावत"...केशव

२. बिहारी = बिहार (क्रीड़ा इत्यादि) करनेवाले। लाल = प्यारा, लाल, लला, लली, ललना (लाड़ला, लाड़ली) कितने मनोहर शब्द हैं। नँदलाल = कृष्ण, वृषभानुलली = राधा।

कवित्व देखिए, 'मोर', 'गुंज' इत्यादि को स्पष्ट लिखा नहीं क्योंकि 'काछनी' और 'मुरली' के साथ वह आप ही समझ लिया जायगा। 'बिहारीलाल' और 'कुंजबिहारी' में कितना अंतर है। सूरदास और तुलसीदास ने भी ऐसी प्रार्थना की है।

अलंकार—स्वभावोक्ति (पूर्वार्द्ध में कृष्ण का स्वाभाविक वर्णन) पहले पद में चारों बहुव्रीहि समास हैं।

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन दुति करि अनुराग।
जिहिं व्रज केलि-निकुंज[1]-मग, पग पग होत प्रयाग[2]॥३॥

अर्थ—(हे मन ! अथवा तीर्थाटनप्रिय मनुष्य !) तू तीर्थों को त्यागकर हरि (अर्थात् श्रीकृष्ण) और राधिका के तन की कान्ति में प्रेम करो जिस (तनदुति या उससे अनुराग) के कारण व्रज के केलिनिकुंजों (अर्थात् श्रीकृष्ण आदि के क्रीड़ा-स्थानों) के मार्ग में पग पग पर प्रयाग, (अर्थात् वह स्थान जो तीर्थों का राजा है) हो जाता है।

[गौर वर्ण राधिका गंगा, श्याम वर्ण कृष्ण यमुना में अनुराग सरस्वती होने से प्रयाग का फल प्राप्त हो सकता है।]

अलंकार–काव्यलिंग (तीरथ छोड़ने का समर्थन उत्तरार्द्ध की युक्ति से होता है) उल्लास (राधा कृष्ण के गुण से व्रज का गुण) तद्गुण (व्रज-भूमि प्रयाग हो गई है)

---

१. निकुंज = लतागृह, बगीचे के भीतर लताओं से आच्छादित मंडप।

२. प्रयाग = तीर्थराज, जहां गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है। [प्र + याग, जहां विशेष रूप से या बहुत यज्ञ हुए हों]

मोहन-मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति[1] जोइ[2]।
बसतु सु चित-अंतर तऊ, प्रति बिम्बित[3] जग होइ ॥४॥

*अर्थ—मोहिनी मूर्तिवाले श्रीकृष्ण की अति अनोखी गति वा रीति को देखो कि (वह) हृदय के भीतर वसते हुए भी संसार में प्रतिबिम्बित हैं। अर्थात् बसते हैं अंदर और उनकी छाया पड़ती है सारे संसार में बाहर; भक्त-जनों को समस्त जगत् प्रभु-मय दिखाई देता है। ("सियाराम मय सब जग जानी")—[मोहन-मूरति इसलिए कहा है कि जिसके हृदय में वह बसते हैं उसको चारों ओर बस वही वही दिखाई देते हैं]

अलंकार—तीसरी विभावना (भीतर बस कर भी बाहर प्रतिबिम्बित होना, प्रतिबंध व्यर्थ हो गया)

मोर-मुकुट कि चंद्रिकनु,[4] यौं राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर[5] की अकस[6], किय सेखर सत चंद॥५॥

---

१. गति = चाल, रीति, व्यवस्था, दशा।

२. जोइ = देखो, जोहना = राह देखना, ताकना, देखना।

३. प्रतिबिम्ब = छाया, अकस, प्रतिबिम्बित होना = उसका छाया पड़ना,।

*यों भी अर्थ हो सकता है—श्याम की मोहिनी मूर्ति की अद्भुत गति देखो जो बसती (बसति) तो......

४. चन्द्रिकनु = चन्द्रिकाओं से। मोरपक्ष के चन्द्राकार चमकीले चिह्नों को चन्द्रक कहते हैं। चन्द्रिका चन्द्रक का स्त्रीलिंग।

५. ससि = शशि, चंद्रमा, सेखर = शेखर, मस्तक, जिसके मस्तक पर चन्द्रमा हों (शिवजी) वह ससिसेखर है। बहुव्रीहिसमास

६. अकस (अरबीभाषा से आया है) उलटा, छाया, ईर्ष्या, वैर।

अर्थ—मोरपंख के मुकुट की चंद्रिकाओं से नँदलाल ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों शिवजी के प्रति ईर्ष्या के कारण अपने मस्तक पर सौ चन्द्रमा धारण कर लिये हों। [मोहनी मूरति कृष्ण को कामदेव के जला देने से शंकर से ईर्ष्या है। 'किय' शब्द को 'अकस' से मिला कर 'जो अकस किये हो' अर्थात् कामदेव, क्योंकि उसी को शिव से ईर्ष्या है, अर्थ निकाल कर यों भी अर्थ कर सकते हैं: 'मानों स्वयं कामदेव सौ चन्द्रमा धारण करके सुशोभित हों]

अलंकार—असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा (ईर्ष्या हेतु मानी गई है। ईर्ष्या के कारण चन्द्रमा धारण करना प्रसिद्ध है)

सखि, सोहति गोपाल कैं, उर गुंजन[1] की माल।
बाहिर लसति[2] मनौ पिए, दावानल[3] की ज्वाल ॥ ६ ॥

अर्थ—हे सखी गोपाल के हृदय पर घुँघुचियों की माला ऐसी शोभा दे रही है मानों पिये हुए दावाग्नि (दावानल जो श्रीकृष्ण पी गये थे) की ज्वाला दीख रही हो वा शोभित हो रही हो।

---

१. गुंजा = घुँघुची—यह एक जंगली लता है जिसकी फलियों से अरहर के बराबर लाल लाल दाने निकलते हैं।

२. लसति—लसना = शोभित होना या फबना अथवा विराजना या विद्यमान होना। "लसत चारु कपोल दुहुँ बिच सजल लोचन चारु" सूरदास।

३. दाव + अनल = वनाग्नि। एक समय रात्रि को जंगल में चारों ओर आग लग गई। जब सब लोग बहुत पीड़ित हुए तो श्रीकृष्ण ने उस प्रज्वलित अग्नि को पी लिया जिससे सबका दुख दूर हुआ (दावानल से यहां पर विरहाग्नि का अर्थ भी ले सकते हैं)।

अलंकार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (गुंजाओं की माल ज्वाला-तुल्य दिखाई गई है ।)

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु, स्याम सलोनैं[1] गात ।
मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु पर्यौ प्रभात ॥ ७ ॥

अर्थ—सुन्दर शरीरवाले श्यामरंग श्रीकृष्ण पीताम्बर ओढ़े हुए ऐसे सुहावने लगते हैं (उनके शरीर पर ऐसी शोभा आ गई है) मानों नीलमणि (नीलम) पर्वत पर प्रातः-काल को (पीली पीली सुनहरी) धूप पड़ी है।

अलंकार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा । (स्याम गात पर पीत पट नीलमणि पर्वत पर आतप के तुल्य है । स्यामगात, विषय)

अधर धरत हरि कैं परत, ओठ डीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग† होति ॥ ८ ॥

अर्थ—हरे रंग की बाँस की बाँसुरी, श्रीकृष्ण के ओठ पर रखते ही, ओठ (लाल रंग), दृष्टि (श्याम रंग) और वस्त्र (पीत रंग पीताम्बर) की ज्योति से इन्द्रधनुष के रंग की हो जाती है । [इनके निरीक्षण पर ध्यान दीजिए। उस पर इन्द्रधनुष की उपमा देकर मुरली को न केवल रंगवाली ही बनाया है, वरन् उसको ज्योतिमयी भी बना दिया। यह कृष्ण के ओठों की बड़ाई है। इस दोहे का उदाहरण देते हुए मिश्र-बंधुओं ने लिखा है "इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है"।]

अलंकार = उपमा (बाँसुरी की इन्द्रधनुष से) तद्गुण (बाँसुरी अधर, ओठ, पट का गुण ग्रहण करती है ।)

---

१. सलौनैं = लावण्यमय, सुन्दर ।

† सी ।

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ, स्यामु सुभग सिर मौरु[1] ।
बिन हूँ उन* छिनु गहि रहतु, दृगनु अजौं वह ठौरु ॥९॥

अर्थ—जिस जिस स्थान पर परम सुन्दर कृष्ण को खड़े देखा था वहाँ अब उनकी अनुपस्थिति में भी वह स्थान ही आँखों को कुछ समय के लिए पकड़ रखता है। अर्थात् खड़े हुए नँदलाल का रूप स्मरण होने पर वह स्थान भी अति रमणीय, नेत्राकर्षक प्रतीत होता है। [प्रेम का प्रभाव देखिए। भरतजी का प्रेम स्मरण कीजिए । जिन जिन स्थानों पर श्रीरामचन्द्रजी वन जाते समय ठहरे थे उनको देख देख कर भरतजी की आँखों में प्रेम-जल भर जाता था]।

अलंकार,-विभावना (उनके रहे विना भी स्थान आकर्षक है। कारण विना कार्य होना) और स्मरण।

मिलि परछाँहीं जोन्ह सौं, रहे दुहुनु के गात ।
हरि राधा इक संग हीं, चले गली महिं जात ॥१०॥

अर्थ—श्रीकृष्ण और राधा एक साथ गली में जाते हुए रात्रि समय परछाहीं और चाँदनी में मिल गये थे । अर्थात् राधिकाजी का गौर शरीर चन्द्रिका में और कृष्णजी का श्याम शरीर राधिका की परछाहीं में ऐसा मिल गया था कि जान नहीं पड़ता था [केवल छाया ही दीख पड़ती थी । उसके भीतर श्याम रंग कृष्ण लुप्त हो गये थे और जिसकी छाया थी वह चाँदनी में लुप्त थी]

---

1. सुभग सिरमौर = भाग्यवानों (यहां पर रूपवानों) में शिरोमणि (सु + भग, अच्छे भाग्य वा ऐश्वर्यवाला, सुंदर । सिर = शिर; मौर = मउर, मउड़, मुकुट)

* उनहूँ विन ।

अलङ्कार = मीलित (चाँदनी में राधा का और छाया में कृष्ण का मिल जाना)

वन तन कौं निकसत[1] लसत, हँसत हँसत इत आइ।
दृगखंजन[2] गहि लै चल्यौ,* चितवनि चैंपु[3] लगाइ ॥११॥

अर्थ—वन की ओर निकलते समय (अर्थात् गौएँ चराने के लिए वन जाते समय, गोपाल) शोभा देते हुए हँसते-हँसते इस (अर्थात् मेरी) ओर आकर मेरे नेत्र-खंजनों को अपनी चितवन का लासा लगाकर पकड़ ले चले (अर्थात् मेरे नेत्र आसक्त हो गये ?) रूपक बाँधना देखिए। और विलक्षणता पर ध्यान दीजिए। नायक चुपचाप दबे पाँव नहीं वरन् हँसते-हँसते लासा लगाता है। ये खंजन जंगल के नहीं हैं। इनको उलटे नगर से पकड़ कर वन को ले चलना है। यह तो "चितवनि चैंपु" हुआ। अब "चख रुचि चूरन" की करनी सुनिए।

"चख रुचि चूरन डारि कै, ठग लगाय निज साथ।
रह्यो राखि हठ लै गयो, हथा हथी मन हाथ॥"

---

१. निकसत क्रिया का कर्ता कौन है ? उक्त अर्थ में नायक है। किन्तु नायिका भी हो सकती है। तब अर्थ यों करना होगा "ज्यों ही मैं बाहर निकली (प्रातःकाल को भीतर से द्वार पर आई) त्यों ही वन की ओर जाते हुए शोभा देते वा क्रीड़ा करते इस ओर आकर........."

२. खंजन = पक्षीविशेष, खड़ैच, खड़रिच।

* गयो

३. चैंपु = लासा।

देव कवि लिखते हैं।

"देव कछू अपनो वस ना रस लालच लाल चितै भई चेरी।
वेगि हि बूड़ि गई पँखिया, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥"

प्रेमचंद्रिका

अलंकार = रूपक

चितु-वितु*[1] बचतु न हरत हठि, लालन दृग बरजोर†[2]।
सावधान के बटपरा[3], ए जागत के चोर॥ १२॥

---

१. चित + वित = चितरूपी धन।

२. बरजोर = बलवान्, ज़बरदस्त, बरजोरी या बलजोरी = बला-त्कार, अकसर बोलते हैं।

३. बटपरा = बाट (रास्ते) में पड़नेवाला, डाकू।

* "लाल तिहारे दृगन की, हाल कही नहिं जाय,
सावधान रहिये तऊ चितवित लेत चुराय"

[काव्यनिर्णय]

† शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक मर्चेंट आफ़ वेनिस में पोर्शिया बसैनियो से कहती है।

Beshrew your eyes,
They have overlooked me and divided me:
One half of me is yours, the other half yours,—
Mine own, I would say; but if mine, then yours,
And so all yours."

अर्थ—श्रीकृष्ण के बलवान नेत्रों से चित्तरूपी धन बचने नहीं पाता, इसको हठ-पूर्वक हर लेते हैं। अर्थात् मैं विवश हो जाती हूँ। मेरा मन मेरे अधिकार में नहीं रह जाता। ये दिन दहाड़े जागते हुओं की चोरी करनेवाले सजग साव-धान लोगों पर डाका डाल के उनको लूट लेते हैं [ये ऐसे चोर हैं जो सोनेवालों की चोरी कर ही नहीं सकते] ये तो डाकू हैं और जो अपने को चतुर समझते हैं उनके लिये ठग हैं। कवि ने कहा भी है—

"जात सयान अयान ह्वै वै ठग काहि ठगै न।
को ललचाय न लाल के लखि ललचौ हैं नैन ॥"

जैसे हो सकता है चोरी करके, डाका डाल के, ठग के वैसे ये नेत्र मन हरण कर लेते हैं। एक समालोचक महाशय यह नहीं समझ सके हैं कि चोर और डाकू दोनों कैसे लिखा गया। क्योंकि डकैती तो बलात्कार छीन लेने को कहते हैं। अतः उनको यह एक दोष प्रतीत हुआ है, जिससे दास कवि मुक्त हैं। वास्तव में इसे दोष कहना भूल है। कृष्ण के नेत्रों की यही विलक्षणता है कि वे चोर और डाकू दोनों हैं। नायिका के कोटि प्रयत्न करने पर भी उसका हृदय डाकू के हाथ पड़ ही जाता है। और सब के जागते हुए भी इस गुप्त रीति से हृदय चोरी चला जाता है कि चोर के घर पहुँच जाने ही पर पता लग सकता है कि धन कहाँ गया। यही चोरी की चरम सीमा है। यहाँ पर थोड़े लिखने और अधिक समझने की बात है। जैसा मिल्टन ने कहा है। "Where more is meant than meets the ear" (जितना सुनाई देता है अर्थ उससे अधिक है)

अलंकारः तीसरी विभावना (सावधान तथा जागते रहने पर भी चोरी हो जाना—कार्य-विरुद्ध कारण से)।

सुरति न ताल[1] न* तान की उठ्यौ न सुरु ठहराइ।
एरी राग विगारि गौ वैरी बोल सुनाइ॥ १३॥

अर्थ—हे सखी मुझे ताल और तान की सुधि न रही। उठाया हुआ (अलापा, आरंभ किया) सुर भी नहीं ठहरता (जमता, कारण इसका यह है कि) वैरी (नायक) अपनी बोली सुना कर मेरा राग बिगाड़ गया। [प्रियतम की बोली सुनने से नायिका को स्वर-भंग हो गया। राग बिगड़ गया। सखियों के मध्य में गाते हुए उसको इस प्रकार बेसुरी करनेवाला उसका वैरी हुआ। रचना देखिए—जितना ही प्रेम अधिक है उतना ही नायक अधिक वैरी है। राग और गाने के साथ बोली का प्रयोग देखिए। साधारण बोली का रस कान में पड़ने से उस प्रवीणा का सरस राग ही ग़ायब हो गया।]

अलंकार = काव्यलिंग। (सुर न ठहराने का समर्थन वैरी की बोली-द्वारा राग बिगड़ने से होता है।)

---

१. ताल = संगीत में काल और क्रिया का परिमाण, जिसे सूचित करने के लिए ताली, तबले, ढोल इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत ग्रन्थों में मार्ग (जो संख्या में ६० हैं) और देशी (जो १२० हैं) दो ताल माने गये हैं।

* रु.

२. तान = लय का विस्तार, आलाप, स्वरों से उत्पन्न ४९ तान माने गये हैं। (मुहाविरे में ताल देना, ताल तोड़ना इ० बोलते हैं।)

अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया वड़ाऐँ[1] हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ* गेह ॥ १४ ॥

अर्थ—उस (नायिका) का शरीर दीपसिखा (दिया की लौ) के समान है इससे उसके अंग अंग के (आभूषणों के) नग (अर्थात् रत्न) जगमग जगमग कर रहे हैं। इसलिए दिया बुझा देने पर भी सारे भवन में उजियारी छाई रहती है। [जिस प्रकार किसी घर में रक्खे हुए बहुत से दर्पणों में एक ही दीपशिखा का प्रतिबिंब पड़ने से बड़ी चमक आ जाती है और बहुत उजेला फैल जाता है उसी प्रकार नायिका का शरीर रत्नजटित आभूषणों में प्रतिबिंबित होकर अत्यंत प्रकाश किये है। ऐसी ही दीपशिखा सी देह के लिए कवि ने कहा है—

"सघन कुंज घनघन तिमिरु अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरि है स्याम वह दीपसिखा सी जाति॥"]

अलंकार = दूसरा 'पूर्वरूप' द्वितीय चरण में धर्मलुप्ता उपमा (देह की दीपसिखा से, धर्म-उज्ज्वल लुप्त है)

अंग अंग प्रतिबिंब परि दरपन सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ॥ १५ ॥

अर्थ—एक एक आभूषण के अनेक प्रतिबिंब (उस नायिका के) दर्पण सरीखे निर्मल शरीर पर पड़ने से ऐसा जान

---

१. वढ़ाए = बुझाये। (शिष्ट प्रयोग)। बढ़ाने का प्रयोग दुकान के लिए भी होता है। दुकान बढ़ाना = दुकान बंद कर देना, उठा देना।

* देवकवि लिखते हैं—"आरसी से अंबर में आभा सी उज्यारी लगै, प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चन्द" फिर घर में उजाला क्यों न हो।

पड़ता है कि दुहरा तिहरा चौहरा भूषण है। [अथवा एक अंग दूसरे अंगों में प्रतिबिंबित होता है। अतः प्रत्येक अंग के दर्पण होने से बीच में पड़े आभूषण अनेक वार प्रतिबिंबित और प्रति प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसे ही स्वच्छ दर्पण से शरीर के संबंध में कवि ने एक स्थान पर कहा है—

"करत मलिन आछी छविहिं हरत जु सहज विकास।
अंगराग अंगन लग्यो ज्यों आरसी उसास॥"]

अलंकार = धर्मलुप्ता उपमा (गात के दर्पण से, धर्म-उज्ज्वल लुप्त है।)

कंचन* तन धन[1] वरन वर रह्यौ रंगु मिलि रंग।
जानी जाति सुवास हीं केसरि[2] लाई अंग॥ १६॥

अर्थ—(उस नायिका के) सोने के समान पीले श्रेष्ठ रङ्ग-वाले शरीर में लगाई हुई केसर का रंग उसके साथ ऐसा मिल गया है कि वह रंग से पहचानी नहीं जा सकती। वह केवल अपनी सुगंधि ही से जानी जाती है। (अथवा उसकी

१—धन (संस्कृत धनी) = स्त्री, नायिका ("नूपुर पायँ उठे झननाय सु जाय लगी धन धाय झरोखे" देव)। कंचन तन धन वरन वर = कंचन तन नायिका का श्रेष्ठ रंग। 'घन' रखने पर अर्थ होगा = कंचन तन (वाली नायिका) का घना श्रेष्ठ रंग।

२—केसरि, केसर = फूलों के बीच में बाल की तरह की पतली सींक, एक प्रकार के फूल की केसर जिसके छोटे छोटे पौधे और पतली पतली पत्तियां होती हैं। केसर का रंग देखने में गहरा लाल होता है। किन्तु पीसने पर पीला हो जाता है।

*—मतिराम लिखते हैं "विरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि। तन कंचन के आभरण, नीठि परे पहिचानि"।

महक उस सुगंधित शरीर की अपनी सुगंध जान पड़ती है। अर्थात् नायिका का शरीर केसर से कम सुगंधित नहीं है। अतः वह लगाई हुई केसर न तो रंग ही से जान पड़ती है न सुगंध ही से।) [केसर की तो यह दशा रही। अब कंचन तन पर सोने के आभूषणों की दशा सुनिए :—

"दीठि न परत समान दुति कनक कनक से गात;
भूषन कर करकस लगत परस पिछाने जात"।

इसी प्रकार उज्ज्वल शरीर का वर्णन यों किया हैः—

"ह्वै कपूर मणिमय रही मिलि तन दुति मुकुतालि,
छिन छिन खरी विचच्छनौ लखति छ्वाय तिनु आलि"]

अलंकार-उन्मीलित तथा मीलित

केसरि कै सरि[1] क्यौं सकै चंपकु[2] कितकु अनूपु[3]।
गातरूप लखि जात दुरि जातरूप[4] कौ रूपु॥ १७॥

अर्थः—(नायिका के शरीर की शोभा और सुन्दरता ऐसी है कि) केसर (इतना पीत वर्ण और सुगंधित होते हुए भी) उसकी

१—सरि = बराबरी, सादृश्य "याकी सरि जुवती कोउ नाहीं" सू० दा०

२—चंपक = चम्पा, एक वृक्ष होता है जिसके फूल बड़े सुन्दर हलके पीले रंग के होते हैं जिनमें बड़ी तीव्र सुगंध होती है। चम्पे की लकड़ी बड़ी चमकीली होती है।

३—अनूपु = भाषा में अनूप अनुपम के अर्थ में प्रयोग होता है। संस्कृत में इसका अर्थ जलप्राय अथवा पानीवाला, आबदार है।

४—जातरूपु = जो जन्म ही से रूपवान् (सुन्दर) हो, सुवर्ण।

बराबरी क्या कर सकती है और चंपा (उसके सामने) कितनी सुन्दर अथवा आबदार है—उस शरीर के रूप को देखकर तो (जन्म ही से सहज-सुंदर) सुवर्ण का रूप भी छिप गया है (अर्थात्) बराबरी में नहीं ठहर सकता। [इस पीत वर्ण स्वरूप के वर्णन की तुलना उज्ज्वल शरीर के वर्णन से कीजिए। लिखते हैं—

"कहा कुमुद कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति॥"]

अलंकारः—चतुर्थ प्रतीप (केसर, चंपा और जातरूप उपमान गातरूप उपमेय की समानता नहीं कर सकते)

जुवति जोन्ह में मिलि* गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी, अली चली सँग जाइ॥ १८॥

अर्थः—तरुणी नायिका (रात्रि समय रास्ता चलते हुए) चाँदनी में ऐसी मिल गई है कि लखाई नहीं देती (दीख नहीं पड़ती) अतः साथ चलती हुई सखी केवल उसकी सुगंध के सहारे (डोरी लग के) चली जाती है। [सौंधे के डोरैं लगी पर ध्यान दीजिए। प्रकाश तथा गंध इत्यादि के तार होते हैं जो वायु-द्वारा प्रसारित होकर गोचर होते हैं। नायिका के द्युति के तार तो चन्द्रिका के तारों में मिल गये हैं। जिससे वह दृष्टिगोचर नहीं होने पाती। किन्तु उसकी सुगंध के तार (डोर) किसी में मिले नहीं। इसलिए सखी उसी के सहारे (अथवा सुगंध का लालची भ्रमर वा भ्रमर सी सखी) लगी चली जा रही है। डोर और अली शब्दों की उपयुक्तता देखिए]

*देखिए दोहा सं० १०

अलंकारः उन्मीलित

तूँ रहि हौं हीं सखि लखौं चढ़ि न अटा वलि वाल।
सबहिनु बिनु हीं ससि उदै दीजतु[1] अरघु अकाल ॥१९॥

अर्थः (गणेश चौथ, माघवदी ४, का व्रत किये हुए नायिका अर्घ देने के लिए चन्द्र-दर्शन की अभिलाषा से अटारी पर चढ़ना चाहती है। सखी उसका श्रम बचाने के निमित्त सीधे न कहकर उसके रूप की प्रशंसा करके रोकती है—कहती है) हे सखी तुम रहो, मैं ही देख आऊँ (कि चन्द्रोदय अभी हुआ कि नहीं) हे (ससिवदनी) वाला मैं वलि जाऊँ तू अटारी पर न चढ़ (क्योंकि) बिना चंद्रमा निकले ही (तुझे देखकर चन्द्रोदय के भ्रम से) सभी (स्त्रियों) द्वारा बेसमय अर्घ दिया जायगा (वा दिया जाता है) अथवा सभी अर्घ देंगी (या देती हैं) [बेसमय अर्घ देना दूषित है। इस दोष का भागी नायिका हो जायगी इसलिए उसे रुकना पड़ता है। देखिए—ससिवदनी और चन्द्रमुखी अनेक कवियों ने कहा है। परंतु इस दोहे का चमत्कार ही कुछ और है। फिर देखिए—चन्द्रोदय हो जाने पर जब यह नायिका दर्शन को जायगी तो सब स्त्रियाँ घबड़ा जायँगी कि आज पूर्ण चन्द्रमा कहाँ से आया।

१—इस शब्द को मिश्रबन्धु ने "असमर्थ" कहा है। वास्तव में यदि इसका कर्ता (कर्तृवाच्य वाक्य करके) सबहिनु करें तो यह सत्य है। किन्तु कर्मवाच्य वाक्य करके अरघु को इसका कर्ता और सबहिनु का अर्थ सबही द्वारा करें तो शब्द समर्थ है। बिहारीबोधिनी के पाठ (सब ही बिनु ससि ही उदै देहैं) में कोई बखेड़ा नहीं है।

उनको सावधान करने के लिए नायिका का तुरंत नीचे उतर आना आवश्यक है। इसलिए सखी कहती है।

"दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानैं जाय।
सुचिती ह्वै औरो सबै ससिहिं विलोकैं आय॥"]

अलंकारः पर्यायोक्ति (व्यगं से रूप की प्रशंसा)

रही लट्टू[1] ह्वै लाल हौं लखि* वह वाल अनूप[2]।
कितौ मिठास† दयौ दई[3] इतैं सलोनैं[4] रूप॥ २०॥

अर्थः—हे लाल मैं उस अनुपम वाला (युवती, नायिका) को देखकर लट्टू हो रही हूँ (उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गई हूँ) ईश्वर ने इतने सलोने (लवणयुक्त, सुंदर) रूप में कितनी मिठास (माधुर्य) दी है [सलोने शब्द का प्रयोग देखिए—सलोने रूप में मिठास कहाँ से आई? थोड़े लवण रहने पर अधिक मिठाई डालने से पदार्थ मधुर हो जाता है। इस नायिका के रूप में इतना

१—लट्टू होना = रीझ जाना, आसक्त होना (हर्ष, प्रेम, चाह इ० में मग्न होकर लट्टू सरीखे नाचने लगना। इसी से अर्थ निकला जान पड़ता है)

२—अनूप (दे० दो० १७)

३—दई = ईश्वर—ईश्वर के अर्थ में दई, दईव, दइवा इ० सब शब्दों का प्रयोग होता है—देव शब्द का अपभ्रंश।

४—सलोने = लवणयुक्त, लावण्ययुक्त, नमक भरा हुआ, सुन्दर।

*अँगरेज़ी कवि बर्न्स लिखता है "To see her is to love her An' love but her for ever."

† "वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई"

(मतिराम)

लवण (दूसरा अर्थ लावण्य) होने पर न जाने कितने माधुर्य की आवश्यकता हुई होगी। ईश्वर ने अमित मिठास भर दी है। किस प्रकार माधुर्य का आधिक्य दिखलाया है !]

अलंकार, विरोधाभास (माधुर्य और लावण्य।)

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जु[1] न चखतृषा[2] बुझाइ ॥२१॥

अर्थः—(तेरे वा उसके) सगुन (अपने गुण से संपन्न, अपना प्रभाव दिखलानेवाले) सलोने (लवणयुक्त, लावण्ययुत) रूप के दर्शन की इच्छारूपी प्यास जो नहीं बुझती इस कारण से (मेरे नेत्र) जितने ही अघा अघा कर उसको पीते हैं अर्थात् उसको देखते हैं उतने ही प्यासे रह जाते हैं। [लवणयुक्त पानी पीने से प्यास नहीं बुझती, वरन् बढ़ती ही जाती है। सलोने रूप की भी यही दशा है। उससे भी दर्शकों की प्यास नहीं बुझती। यहाँ सगुन शब्द का प्रयोग देखिए। गुणयुक्त, गुण एक ओर तो लुनाई (सुंदरता) है दूसरी ओर लवण (खारीपन) ऐसे लोयन सागर (खारा समुद्र अथवा लावण्यसिंधु) शरीर का दूसरा वर्णन सुनिए कितना सार्थक और मनोहर है "लीनेहू साहस सहस कीने जतन हजार, लोयन लोयन सिंधु तन पैरि न पावत पार" इसकी उपमा और इसका चित्र देखिए—विद्या-

---

१—जु = जो—यहां पर कारणसूचक है। अतः क्योंकि भी अर्थ हो सकता है। बिहारी के कम शब्द प्रयोग के आधार पर दूसरे चरण का अर्थ यों भी कर सकते हैं उसमें जो का साधारण अर्थ है "सलोने रूप की प्यास जो नहीं बुझती तो स्पष्ट है कि रूप सगुण है" अथवा सचमुच सलोना है, लोन का गुण रखता है।

२—चखतृषा = आंखों की प्यास, दिखसाध, दर्शनलालसा।

पति कहते हैं "जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल"]

अलंकारः विशेषोक्ति (पीने से भी प्यास न बुझना)

लिखन बैठि जाकी सबी[१] गहि गहि गरब* गरूर[२] ।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर[३] ॥२२॥

अर्थः—(वह सुंदरी नायिका ऐसी है) जिसका चित्र खींचने के लिए घंमड से भर भर कर बैठ संसार के कितने चतुर चित्रकार मूढ़ (वेवकूफ़) नहीं बने ? अर्थात् अनेकों प्रवीण चित्रकार उसकी तसवीर उतारने बैठे परन्तु उसके सौंदर्य के आधिक्य तथा शोभा की प्रतिक्षण वृद्धि के कारण यथार्थ चित्र न उतार सके । उनकी सारी चतुराई भूल गई

१—सबी = अरबी शब्द शबीह से है जिसका अर्थ तसवीर वा यथार्थ चित्र है ।

२—गरब गरूर, दोनों का अर्थ घमंड या अहङ्कार है । एक ही अर्थ के दो शब्द भाषा में एक साथ बहुधा प्रयोग होते हैं । जैसे भाई बिरादर, यार दोस्त, गली कूचा, हवा बयार ।

३—कूर = टेढ़ा, विकृति बुद्धिवाला, बेवकूफ़ अथवा "अकर्मण्य जिसका किया कुछ न हो सके, सुस्त, निकम्मा" "तहां सूरन उछाह कूर कादर डरत हैं" तुलसी । फारसी शब्द कोर = अंधा से भी इसका अर्थ हो सकता है ।

*शृंगार सप्तशती में लिखा है ।

"सगरब गरब खिंचै सदा चतुर चितेरे आय ।
पर वाकी बांकी अदा नेकु न खींची जाय" ॥

अलंकारः विशेषोक्ति, वक्रोक्ति

भूषन भारु* सँभारि है क्यों इहिँ तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर[1] परैँ सोभा ही कैँ भार ॥२३॥

अर्थः—(भला) यह सुकुमार शरीर आभूषणों का बोझ कैसे सँभाल सकेगा जब शोभा ही के भार के मारे पैर पृथ्वी पर सीधे नहीं पड़ते [एक ही दोहे में शोभा का आधिक्य, रूपवती स्त्री की चाल, सुकुमारता तथा आभूषणों की अनावश्यकता किस मनोहर रूप से वर्णित है।]

अलंकारः काकु वक्रोक्ति

न जक धरत हरि हिय धरैँ नाजुक कमला बाल।
भजत भार भयभीत ह्वै घनु चंदनु बनमाल ॥२४॥

अर्थः—हरि (श्रीकृष्ण) घन (कपूर), चन्दन और वनमाला को धारण करते हुए (भजत = भोगते वा सेवन करते हुए) चैन नहीं धरते (पाते) क्योंकि सुकुमार लक्ष्मी सरीखी बाला (कोमलांगना) को हृदय में धारण करने से भयभीत हैं कि कहीं इन वस्तुओं का भार उस हृदय-निवासिनी सुकुमारी पर न पड़ने पाये। [इस दोहे के अनेक अर्थ निकाले गये हैं। जक = चैन, डर, सूम; हरि = नायक, श्रीकृष्ण, विष्णु; नाजुक कमलाबाल =

१—धर = धरा, पृथ्वी।

*"नथुनी गजमुकुतान की लसति चारु सिंगार।
जनि पहिरै सुकुमार तन और आभरन भार॥" मतिराम
"चलत लंक लचकत चलति सकति न अंग सम्हार।
भार डरनि सुकुमार वह धरत न उर पर हार"॥ विक्रम
"नाजुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो"। अकबर

सुकुमार, कोमलगात नायिका, लक्ष्मी सरीखी वाला, लक्ष्मी; भजत=भोग करते, भजन करते, त्याग करते; भार=बोझा, भाड़; वनमाल=फूलों इत्यादि की माला, गुलाबजल का समूह— इन अर्थों को मिला जुला कर सौकुमार्य, विरहव्याकुलता, भक्ति, वैराग्य, धनासक्तता इत्यादि का अनेक भाँति वर्णन किया है— हमारे वैद्यजी को भी ऐसे अर्थबाहुल्य में कोई अच्छा नुसख़ा अवश्य ही मिला होगा]

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार ।
चुवत सुरँग[1] रँगु सी मनौ चपि बिछियनु[2] कैं भार ॥२५॥

अर्थः—(उस) यौवना की लाल लाल पादांगुलियाँ अति सुकुमार हैं (ऐसा जान पड़ता है) मानों बिछियों के भार से दब कर चूते हुए ईंगुर के रङ्ग (की बूँदों) सी हो गई हैं [देव कवि लिखते हैं "रूप चुवै चपि कंचन नूपुर कौल से पायन नौल बहू के, अंगन रंग मनौ निचुरै पिय संग धरे मग मैं पग दू के"]

अलंकारः सिद्धास्पद (दबने से लाल हो जाना) हेतूत्प्रेक्षा

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियैं गुलाब कैं झँवा[3] झँवैयत पाइ ॥२६॥

१—सुरंग = लाल, ईंगुर, आलक्तक, अच्छा रंग ।

२—बिछिया = पैर की उँगलियों में पहनने का एक आभूषण होता है (बिच्छू + इया)

३— झँवा = झांवा (संस्कृत झामक) मैल छुड़ाने के लिए (विशेषतः पैर की) वस्तुविशेष जो मिट्टी आदि की बनी होती है (जली हुई ईंट)। झँवाना, झँवा से पैर रगड़वाना ।

अर्थः—(नाइन जो नायिका का पैर मलने अर्थात् साफ़ करने आई है वह) छाले पड़ जाने के डर से (इन कोमल पदों को अपने कठोर) हाथ से नहीं छूती (इसलिए वे) पैर झझकते (हिचकिचाते, डरते) हृदय से गुलाब के झँवा से मले जाते हैं [यह तो पैरों की कोमलता है । शरीर कितना सुकुमार है कहा नहीं जा सकता। वह तो गुलाब लगने से खुरच ही जायगा । जैसा कवि ने कहा भी है "पँखुरी लगे गुलाब की परि है गात खरौंट"]

अलंकारः संबंधातिशयोक्ति (हाथ और गुलाब में अयोग्यता)

सोहत अँगुठा पाइ कै अनवट[1] जर्‌यौ[2] जराइ[2]।
जीत्यौ तरिवन*[3] दुति सु ढरि[4] पर्‌यौ तरनि[5] मनु पाइ ॥२७॥

१—अनवट = पैर के अँगूठे में पहनने का गोलाकार आभूषण-विशेष, एक प्रकार का छल्ला (अंगुष्ट से संबंध है)।

२—जर्‌यो = जड़ा हुआ, जराय = जड़ाव अर्थात् नगों का जड़ाव।

३—तरिवन = तरौना, ताटंक, कर्णफूल।

४—ढरि = ढरकर, गिरकर, झुककर वा दीन होकर।

५—तरनि = सूर्य।

*कान में पहनने का यह एक आभूषण है। इसकी द्युति का वर्णन तो यों किया है। अब झिलमिली (पत्ता) के झलकने का वर्णन सुनिए।

"झीने पट में झिलमिली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनुसिंधु में लसत सपल्लव डार॥"

कपड़े की उपमा सिंधु, गंगा, तथा यमुना से बिहारी ने बहुत ख़ूबी से दी है।

अर्थ—(नायिका के) पैर के अँगुठे पर का (अथवा उसका अँगूठा पाकर) नगों के जड़ाव से जड़ा हुआ अनवट ऐसा शोभायमान है मानो (प्रकाशमान) सूर्य (नायिका के कानों के) कर्णफूल की चमक से हार कर उसके पैरों पर गिर पड़ा हो। [देखिए कर्णफूल और अनवट दोनों की शोभा एक ही बात से कैसे वर्णन की है। कर्णफूल में बीच के गोलाकार घेरे से चारों ओर दौड़ती हुई किरण समान लकीरें सूर्य को हराने में अवश्य समर्थ होंगी। अनवट भी गोल आकृति का होता है। सूर्य से उपमा दी जा सकती है। कवि की पहुँच देखिए]

अलंकारः सिद्धास्पद (हार कर पैरों पर पड़ना) हेतूत्प्रेक्षा

अजौं तरयौना हीँ[1] रह्यौ श्रुति[2] सेवत इकरंग।
नाक[3] वास वेसरि[4] लह्यौ बसि मुकुतनु[5] कैँ संग ॥२८॥

अर्थः—(तरौना) एक ढंग से (बराबर) कानों का सेवन करता हुआ आज तक तरौनाही रहा (अर्थात् नीचे या, अमुख्यस्थान में ही रहा,) (और) वेसरि ने मोतियों के संग बस कर नाक-वास प्राप्त किया वह नाक (अर्थात् बदन के अग्र भाग को प्राप्त हुई) [साधु-समाज में इस दोहे के और ही अर्थ किये जाते हैं—सर्वदा वेदों का सेवन करता हुआ भी मनुष्य आज

१—तरयौना हीं = (१) ताटंक ही, (२) अधोवर्त्ती (३) तरयौ नाहीं।

२—श्रुति = (१) कान, (२) वेद।

३—नाक = (१) घ्राणेन्द्रिय, (२) स्वर्ग।

४—वेसरि = (१) नकवेसरि, नाक का आभूषण विशेष, (२) वेसरी (पुँलिङ्ग वेसर = खच्चर), महाअधम।

५—मुकुतन = (१) मोतियों, (२) मुक्त-जनों।

तक अधोवर्ती ही रहा अथवा आज तक तरा नहीं (तर्यौ नाहीं) और महा अधम जीव भी मुक्तों (जीवनमुक्त महात्माओं) के साथ रह कर स्वर्ग में वास करने लगे] इस दोहे से प्रतीत होता है कि वैष्णव-काल के अन्य कवियों की तरह बिहारीलाल सत्संगति के प्रभाव को सर्वोच्च मानते हैं—तुलसीदास लिखते हैं।

मति कीरति गति भूति भलाई, जब जेहि यत्न जहाँ जेहि पाई।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ, लोकहु वेद न आन उपाऊ।
शठ सुधरहिं सतसंगति पाई; पारस परसि कुधातु सुहाई।

अलंकारः—श्लेष (तर्यौना इ०), मुद्रा।

मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिवैं काज।
दृग पग पोंछन कौं करे+ भूषन पायंदाज[1] ॥२९॥

अर्थः—(उस सुंदरी के शरीर पर जो आभूषण हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो विधाता ने उस शरीर की अच्छी छवि को निर्मल रखने के निमित्त नेत्रपगों के पोंछने के लिए उन्हें पायंदाज बनाया हो (ताकि आँखें जब छवि की ओर चलें तो पहले अपने पैरों को पोंछ लें जिससे धूल इत्यादि जो लगी हो सो छूट जाय।) [इस दोहे की बारीकी देखिए एक तो उपमा कितनी सुन्दर है। दूसरे "loveliness needs no ornament" * (सुंदरता को

+ पा० किये।

१. पायंदाज = (फ़ारसी शब्द) पैर रखने की चीज़, वह टाट इत्यादि जिस पर पैर पोंछ के तब बिछौने पर जाया जाता है—ताकि बिछौना मैला न हो।

* इस पर भी एक दोहा कहा है—उसकी मनोहरता देखिए।

"तन भूषन अंजन दृगनि पगन महावर रंग।
नहिं सोभा को साज ये कहिबे ही को अंग॥"

आभूषणों की आवश्यकता नहीं।) का समर्थन करते हुए भी आभूषणों की उपयोगिता कैसी दिखलाई है—तीसरे आभूषणों की अप्रशंसा के बहाने उनकी छवि का वर्णन किया है—आँखें पैर पोंछने वहाँ ठहर जाती हैं—अर्थात् उनमें भी ऐसी मनोहरता है कि नेत्र को आकर्षित होना पड़ता है—और वहाँ जाके ये स्वच्छ पवित्र हो जाती हैं]

अलंकार, हेतूत्प्रेक्षा

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत ।
दरपन के से मोरचे[1] देह दिखाई देत ॥३०॥

अर्थ—(हे सहज सुन्दरी !) तू सोने के आभूषण मत पहन—क्योंकि (इस कारण यह कहने में आता है कि) दरपन के मोरचे सरीखे (ये) दिखलाई देते हैं (अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दरी के शरीर पर जहाँ जहाँ गहने पड़े हैं वहाँ की सहज द्युति छिप जाने से अनुमान होता है कि शीशे पर मोरचा लग गया है) [ऐसे दर्पण के से निर्मल गात पर कोई भी वस्तु जो अति उज्ज्वल न हो छविहारिनी सी लगेगी। केसर चन्दनादि लेपन के लिए कवि ने कहा भी है।

"करत मलिन आछी छविहिं हरत जु सहज विकास।
अंगराग अंगन लग्यो ज्यों आरसी उसास॥"—यदि कोई

१—मोरचा = (फ़ारसी शब्द) ज़ंग जो लोहे पर नमी के कारण लग जाता है। प्राचीन समय में दर्पण लोहे से बनाया जाता था—काच पर भी लोहे के संसर्ग से मोरचा लग जाना सम्भव है। शीशे पर जमी हुई मैल "जब लगि हिय दरपन रहै कपट मोरचा छाइ"—(रसनिधि)

वस्तु शोभा बढ़ा सकती है अथवा कम से कम मलिन होने से बचा सकती है तो वह श्वेत सारी* ही है—आगे देखिए]

अलंकारः पूर्णोपमा । विषम

सहज[1] सेत पँचतोरिया[2] पहिरत अति छवि होति ।
जलचादर[3] के दीप लौं जगमगाति तन जोति ॥३१॥

अर्थः—सामान्य (बिना फूल बूटे इत्यादि के अथवा सहज ही में) श्वेत पँचतोलिया सारी पहनने से अति शोभा होती है

---

*सेत सारी ही सों सब सौतें रँगी स्याम रंग, सेत सारी ही मैं स्याम रँगे लाल रंग में" मतिराम ।

१—सहज = (१) सामान्य, बिना फूलबूटे के, (२) सहज ही में। यह शब्द अँगरेज़ी के (natural) (स्वाभाविक, प्राकृतिक) शब्द के विविध अर्थों में प्रयोग होता है । एक 'जो स्वाभाविक हो', 'जिसमें कृत्रिम मिलावट न हो,' 'जो प्राकृतिक हो,' 'जो साधारण हो', इत्यादि—जैसे-"सहज सुन्दर सांवरो,"—(तुलसीदास) "अज्यों न आयो सहज रङ्ग" । (बिहारी) "सहज सेत..." "सहज स्वभाव छुआ छल नाहीं" (तुलसीदास)

२—पँचतोरिया = पँचतोलिया (पांच तोले का), एक प्रकार की अति हल्की बारीक रेशमी सारी जो तौल में केवल पांच तोले की होती है ।

३—जलचादर, ऊपर से गिरते हुए (जैसे फव्वारा से) जल की चादर । राजाओं के बाग़ इत्यादि में जल का विस्तृत प्रवाह गिराया जाता था और उसके पीछे दीपक रख दिये जाते थे जिससे रात्रि समय जगमगाती हुई दीपावली गिरते हुए जल के बारीक निर्मल चादर के पीछे अति शोभा देती थी । ऐसे ही शोभायमान दीप को "जलचादर के दीप" कहा गया है ।

(उस नायिका की छवि बहुत हो जाती है और उसके) शरीर की ज्योति जलचादर के (पीछे रक्खे हुए) दीपक की भाँति जगमगाती है। [केवल सारी पहने हुए नायिका की शोभा विहारीलाल ने वहुत अच्छी तरह वर्णन की है—कहते हैं।

"जरी कोर गोरे वदन† वरी खरी छवि देख,
लसति मनो विजुरी किये सारद ससि परिवेष।"
"टटकी धोती धोवती चटकीली मुख जोति,
फिरत रसोईं के वगर जगर मगर दुति होति।"

पहले दोहा की उपमा और दूसरे का चित्र और शब्द-प्रयोग देखिए—क्या मनोहरता है]

अलंकारः—पूर्णोपमा

सोरठा—मंगल विंदु सुरंगु, मुखु ससि केसरि आड़[1] गुरु[2]।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत ॥३२॥

अर्थः—सुरंग विंदु (भाल पर ईंगुर का, अच्छे रंग का, वा लाल रोरी इत्यादि की विंदी) रूपी मंगल, (पीत वर्ण) केसर

---

† गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार
देव मनि झुमका झुमकि झुमड़े परत
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ
बड़ी बरुनीन होड़ा होड़ी हुमड़े परत" देव।

१. केसरि आड़ = केसरि का आडा टीकड़ा, आड़ (संस्कृत आलि = रेखा से) = स्त्रियों के ललाट पर का आड़ा (horizontal) तिलक "केसर की आड़ अधि राधिका रची बनाइ" केशव।

२. गुरु = बृहस्पति (देवताओं के गुरु)

का आड़ा टीकारूपी बृहस्पति (और गौर वर्ण) मुखरूपी चन्द्रमा को एक (ही) नारी (स्त्री-रूपी नाडी) ने एक संग प्राप्त करके लोचनरूपी संसार को रसमय (रसपूर्ण वा जलमय) कर दिया। ('जलमय' दोनों अर्थों के लिए उपयुक्त हो सकता है। नेत्र भी अनुराग से अश्रुमय हो जाते हैं) [मंगल का रङ्ग लाल और बृहस्पति का पीला माना जाता है। उपमा को तथा ज्योतिष के सिद्धांत का घटित होना देखिए। तीनों उपर्युक्त ग्रहों के एक ही नाड़ी में आजाने से जगद्व्यापिनी वृष्टि होती है। यथाः—

एकनाडीसमारूढौ चंद्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही॥
(नरपतिजयचर्या० अध्या० ३, श्लो० २६)

साधारण विंदी टीका दिये ससिवदनी का वर्णन देखिए]*

---

*उक्त सोरठा और आगे के कई दोहों के साथ सूरदास का चित्र पढ़िए।
"प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की सुपमा कहहु विचारि;
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससिमुख सुधानिहारि।
बरनै कहा सीस सेंदुर को कवि जु रह्यो पचिहारि;
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर विदारि।
भ्रुकुटी विकट निकट नैनन के राजत अति वर नारि;
मनहु मदन जग जीति जेर करि राखेहु धनुष उतारि।
ता बिच बनी आड़ केसरि की दीन्ही सखिन सँवारि;
मानो बँधी इंदु मंडल में रूप सुधा की पारि।
चपल नैन नासा बिच सोभा अधर सुरंग सुढारि;
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुब्ध्यौ बिंबविचारि।
तीखन सुघर अधर नक बेसरि चिबुक चारु रुचि कारि;
कंठसिरी दुलरी तिलरी पर नहिं उपमा कहुँ चारि।
× × × × ×
'सूर' रसिक तबहीं पै बदिहौं मुरली सकहु सम्हारि।"

अलंकार श्लेष (नारी इ०), सांग रूपक

कुटिल अलक[1] * छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु[2] ।
बंक बकारी[3] देत ज्यौं दामु[4] रुपैया होतु ॥३३॥

अर्थः—(नायिका के) मुख पर टेढ़ी लट छूट पड़ने से उसकी चमक इतनी बढ़ गई है कि जैसे किसी अंक के (दाहिने) विकारी लगा देने से दाम (का मोल बढ़कर) रुपया हो जाता है— (जैसे ४) से बोध होगा चार रुपये का और विकारी न रहने पर ४ से बोध होगा ४ दाम का। श्याम रंग के टेढ़े बालों के मुँह पर आजाने से सहज सुन्दर गौर मुख की शोभा कई गुना बढ़ जाती है) [विहारीलाल ने बालों के वर्णन में कमाल कर दिया है। पहले उनका रूप देखिए—

"सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगंध सुकुमार" ये मनोहरबाल साधारण दशा में "छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे

१—अलक = कनपुटी के ऊपर के लंबे घुँघराले बाल; लट।

* "लटकी लट वा लटकीली तें और गई बढ़ि कै छवि आनन की यौं, आंक बढ़े दिये दूजी बिकारी के होत रुपैयन ते मुहरे ज्यौं" सुंदर

" Her sunny locks hang on her temples like a golden fleece" Shakspeare (M. of V.)

२—उदोत = उद्योत = चमक, उजियाली, सौंदर्य।

३—बंक बकारी = टेढ़ी पाई ( ))

४. दाम 'एक पैसे के पचीसवें भाग को दाम कहते हैं'—छदाम पैसे का चौथा भाग होता है जिसे दुकड़ा भी कहते हैं। लिखावट में दाम की संख्या रुपया आना के बाद बिकारी के बाद लिखी जाती है। केवल संख्या ही लिखने से और उसके बाद कोई बिकारी न देने से दाम का बोध होता है—संख्या के बाद बिकारी लगाने से रुपये का बोध होता है।

सुकुमार" और जूड़ा में बँध जाने पर "मन बाँधत वेनी बँधे नील छबीले बार" और यहीं तक नहीं छोड़ दिया है। लंबे बालों का सौंदर्य वर्णन करते करते उनको इतना उच्च पद दे दिया है कि लिखते हैं—:

"ताहि देखि मन तीरथनि विकटनि जाय बलाय,
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसत पाय।"]

अलंकारः प्रति वस्तूपमा (उपमेय और उपमान में एक धर्म)

नीकौ लसतु लिलार पर टीकौ[1] जरितु जराइ[2]।
छविहिं बढ़ावतु रवि मनौ ससिमंडल में आइ ॥२४॥

अर्थः—(नायिका के) भाल पर रत्नजटित टीका (ऐसा) अच्छा सुशोभित है मानौ सूर्य चंद्रमंडल में आकर छवि (अर्थात् मुख का सौंदर्य) बढ़ा रहा हो (नायिका के चन्द्रमुख पर टीका सूर्य की तरह चमक रहा है) [प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूर्य के आ जाने से चन्द्रमा की शोभा बढ़ कैसे सकती है। यह चंद्रमा की प्रशंसा है। टीकासूर्य मुखचन्द्र के सामने (प्राकृतिक सूर्य के असदृश) इतना छोटा है कि उसका प्रकाश मुख-सौंदर्य को फीका न करके उसमें चमक बढ़ा देगा। जिससे माधुर्य के साथ द्युति भी आ जायगी]

अलंकारः—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (शशिमंडल में रवि के तुल्य लिलार पर टीका, लिलार विषय)

---

१ – टीका ललाट का एक आभूषण होता है।

२—दे० दोहा सं० २०—जरित जराइ = जड़ाऊ काम से जड़ा हुआ, रत्नजटित।

कहत सबै बेंदी दियें आँकु दसगनौ* होतु।
तिय लिलार बेंदी दियें अगिनितु बढ़तु उदोतु[1] ॥३५॥

अर्थः—सभी कहते हैं कि (किसी संख्या पर) बिंदी देने से (एक शून्य बढ़ा देने से) अंक (अर्थात् वह संख्या) दस-गुना (जैसे ६ पर ० देने से ६०) हो जाता है। (परंतु) स्त्री के लिलार पर बिंदी लगाने से (तो) प्रकाश वा सौंदर्य अगणित (गुना) बढ़ जाता है (साधारण जनों के कथनानुसार केवल दस गुना ही बढ़ना चाहिए था। किंतु बिंदी ने नायिका का लिलार पाकर अपना प्रभाव कहीं बढ़ा दिया) [विहारीलाल ने बिंदी का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन कई दोहों में किया है। एक दोहे में कहते हैं।

"भाल लाल बेंदी ललन आपत रहे विराजि,
इंदुकला कुज में बसी मनो राहु भय भाजि" फिर
†"तिय मुख लखि हीरा जरी बेंदी बढ़ै विनोद,
सुत सनेह मानो लियो विधु पूरण बुधगोद"
"पचरँग नग बेंदी बनी उठी जागि मुख जोति"।

---

* उर्दू के किसी शायर ने लिखा है—

"ख़ाले सियाह नाफ़े मुदव्वर के पास है।
जो हिन्दसा पहले पांच था वह अब पचास है"॥

१—उदोत = दे० दो० ३३।

† यह दोहा अति रसमय और अर्थपूर्ण है। इससे विहारी के गूढ़ ज्योतिष-ज्ञान का पता मिलता है। चन्द्रमा में बुध आने से ऐसी ग्रह-संस्था होती है कि नाना प्रकार के लाभ और आनन्द प्राप्त होते हैं (जैसे धनागम, राजमान, ज्ञानवृद्धि, संतानप्राप्ति इ०) फिर सुत शब्द का प्रयोग—बिहारी ने सचमुच एक दोहे में एक किताब लिख दी है और बेंदी की छवि तो सब तरह से पूरी कर दी।

अलंकारः व्यतिरेक (लिलार की वेंदी में अधिक गुण)

रस सिँगार जनु किए, कंजनु[१] भंजनु दैन ।
अंजनु रंजन हूँ बिना खंजनु[२] गंजनु नैन ।।३६।।

अर्थ—शृंगाररस में नहलाये हुए (तेरे अथवा नायिका के) नेत्र कमलों का मान-मर्दन करनेवाले और बिना अंजन (के रँगने अथवा) लगाये ही खंजन को अपमानित करनेवाले हैं [कमल में कोमलता होती है और वह सदा जल सिंचित रहता है। नेत्र उससे बढ़ गया क्योंकि वह साधारण रस नहीं वरन् शृंगार-रस सिंचित है । और शृंगार (हाव, भाव, कटाक्ष इत्यादि) में नहाने के कारण उसकी मोहिनी शक्ति कमल की कोमलता से भी अधिक होगई । खंजन पक्षी की श्यामता तथा चंचलता अति मनोहर होती है। नायिका के नेत्र स्वभावतः यह गुण-प्राप्त हैं। अंजन की सहायता की आवश्य-कता नहीं]

अलंकारः—वृत्यानुप्रास । चौथा प्रतीप (उपमेय नयन की समानता उपमान कंज और खंजन नहीं कर सकते)

जोग जुगुति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन ।। ३७ ।।

१—कंजन=कंज (कमल) का बहुवचन ।

२—खंजनु = पक्षीविशेष, खड़रिच, [कवियों ने बहुधा आंख की उपमा खंजन से दी है । सूरदास कहते हैं "खंजन नैन रूप रस माते,
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिजरा न समाते ।
चलि चलि जात निकट स्रवनन के उलटि उलटि ताटंक फँदाते,
सूरदास अंजन गुन अटके नातरु अब उड़ि जाते ।"]

अर्थः—(तेरे अथवा नायिका के) नेत्र प्रिय (पति, प्रियतम अथवा ईश्वर) से एकता (प्यारे से सदा मिलाप) अथवा ईश्वर में लीनता की इच्छा से कानन (कानों अथवा वन का) सेवन करते हैं। मानों महामुनि कामदेव ने योग की सब युक्तियाँ (प्रियतममिलन की युक्तियाँ अथवा योगक्रियाएँ) सिखा दी हों; अथवा उनके द्वारा सब योग युक्ति सिखाये हुए नेत्र......... कानन सेवन करते हैं। (अब इस अर्थ पर विचार कीजिए। बड़े लम्बे नेत्रों की शोभा किस विशिष्टता से वर्णन की है। कैसे चुनचुन के शब्द लिखे हैं। और नेत्रों की बड़ाई तथा लम्बाई का इससे अच्छा वर्णन अति कठिन है। कहाँ योग वैराग्य, और कानन, कहाँ नेत्रों की शोभा और शृंगार; कहाँ कामदेव, कहाँ महामुनि—कैसा मिलान किया है। यह दोहा अनुपम है। एक और बात विचारणीय है। पत्नी के लिए पति-अद्वैतता हमारे शास्त्रों में किसी योगाभ्यास और योगफल से कम नहीं। इसका ध्यान रखते हुए शब्दों का प्रयोग और कहने का ढंग अति मनोहर है)

अलंकारः—सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा। श्लेष (जोग, अद्वैतता, कानन), और रूपक (महामुनि मैन)। श्लेष नैन में भी हो सकता है।

बर[1] जीते सर मैन* के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ए नैन ॥३८॥

१—बर = बरबस, बलात्कार।

*अँगरेज़ी का कवि स्पेंसर लिखता है "
I mote perceive how, in her glancing sight
Legion of loves with little wings did fly."

अर्थः—हे हरि (श्री कृष्ण) ये नेत्र मृगी के नेत्रों से भी अच्छे हैं। ये तो कामदेव के बाणों † को (भी) बरबस जीत लिये हैं। मैंने तो ऐसे (नेत्र कहीं अथवा कभी) नहीं देखे (मैन और मैं न, हरिनी और हरि का प्रयोग देखिए)

मतिराम लिखते हैं।

"कवि मतिराम जैसे तीच्छन कटाच्छ तेरे, ऐसे कहाँ सर हैं अनंग के निषंग में"

अलंकारः यमक। काव्यलिंग (उत्तरार्द्ध की युक्ति से पूर्वार्द्ध का समर्थन)

संगतिदोषु लगै सबनु कहे ति साँचे बैन।
कुटिल बंक भ्रुवसँग भये, कुटिल बंक गति नैन ॥३९॥

अर्थः—सबको संगति का दोष लगता है (अर्थात् जैसे संगी रहते हैं वैसा प्रभाव पड़ता है—बुरों के साथ रहने से उनकी बुराई अपने में आ जाती है) यह (लोगों तथा चतुर जनों का बिलकुल) सच्चा कथन है (क्योंकि प्रत्यक्ष उदाहरण देखते हैं कि टेढ़ी भृकुटी के साथ रहने से नेत्रों की गति भी टेढ़ी हो गई) अर्थात् वे भी तिरछे कटाक्ष करते हैं) [इस दोहा में नेत्रों की मोहिनी चाल का वर्णन एक बड़ी शिक्षा के साथ दिया है और दोष मिस गुण दर्शाया है—संगतिदोष लगने का उदाहरण देखिए। तुलसीदास भी लिखते हैं !

"को न कुसंगति पाइ नसाई"]

अलंकारः—उल्लास, (भ्रू के कुटिल होने से नैन-गति का कुटिल होना) अर्थान्तरन्यास।

---

†—दे० पृ० ७ पाद-टीका ५

झूठे[१] जानि न संग्रहे मन मुँह निकसे बैन।
याही तें मानहु किये बातनु[२] कौं विधि नैन ॥४०॥

अर्थः—मन ने मुख से निकले हुए वचनों को झूठा (असत्य अथवा जूठा) जान कर (उनका) संग्रह नहीं किया (अर्थात् उनका आदर वा विश्वास नहीं किया) मानो इसी लिए ब्रह्मा ने बातें करने को (जिसमें असत्यता की शंका न हो सके अथवा जीविकाओं के निमित्त जिसमें जूठे हो जाने की कोई संभावना न हो) नेत्र बनाये हैं [मुँह से उगली वस्तु जूठी तथा निकली बात झूठी हो सकती है, किन्तु आँखों द्वारा कही बात असत्य नहीं हो सकती। उनसे निकली हुई वस्तु पवित्र (निजूठ) विश्वासयोग्य ही होगी]

अलंकारः सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

सायक[३] सम मायक[४] नयन रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ बिलखि[५] दुरि जात जल, लखि जलजात[६] लजात॥४१॥

अर्थः—(उस नायिका के) सायंकाल के समान, माया करने-वाले (और) तीन रंगों (श्याम, श्वेत, अरुण) से रँगे हुए गात्र-

---

१—झूठ, (संस्कृत के 'जुष्ट' शब्द से बना है,) = (१) मिथ्या, असत्य (जो मनोरंजक भी हो), (२) जूठा, उच्छिष्ट भोजन,

२—बातनु = बातों वा जीविकाओं

३—सायक = साधारणतः इस शब्द का अर्थ बाण होता है। बाण को मायक होना भी मान सकते हैं—किंतु उसका तीन रंग होना कुछ अर्थ नहीं

वाले नेत्र (को) देखकर मछली भी (झख भी) व्याकुल हो के पानी में छिप जाती है और कमल लजा जाता है (संकुचित हो जाता है ।) [संध्या समय दिवस का श्वेत रंग, रात्रि का श्याम रंग और डूबते सूर्य तथा बादलों का अरुण रंग नेत्रों के "सेत स्याम रतनार" से तुलनीय है । ऐसे नेत्ररूपी सायंकाल को देखकर कमल लज्जित हो जाता है और मछली अपना आहार ढूँढ़ने से निराश होकर (मछलियाँ भी दिन ही में आहार ढूँढ़ती हैं,) छिप जाती है]

रखता । यदि सायक का अर्थ सायंकाल लें (साय = संध्या समय; शायक = सुलानेवाला समय) तो उसका त्रिविध रंग होना और मायक होना दोनों घटित हो जायगा—अतिरिक्त इसके मछलियों का पानी में नीचे चला जाना और कमलों का संकुचित होना भी ठीक बैठ जायगा । यदि बाण ही का अर्थ लें तो पहले पद का पूर्वार्द्ध दूसरे पद के पूर्वार्द्ध के साथ और उसका उतरार्द्ध उसके उत्तरार्द्ध के साथ लेना होगा । अर्थात् मछली इसलिए छिप जाती है कि उसका नेत्र "सायक सम मायक" नहीं है और कमल इसलिए छिप जाता है कि वह "त्रिविध रंग गात" नहीं है—

४—मायक = माया करनेवाले (नेत्रों का विविध कटाक्ष और उनका प्रभाव, सायंकाल का क्षण क्षण पर रंग बदलना और बाणों का जादू सा काम करना ।)

५—विलखि = विलख कर, विलखना = विलाप करना, दुखी होना "विलखि कह्यो मुनिनाथ"—तुलसीदास ।

६—जलजात = जल से उत्पन्न, कमल ।

अलंकारः उपमा, यमक, व्यतिरेक

चमचमात* चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता[1] विमल जल उछरत जुग मीन ॥४२॥

अर्थः—(उस नायिका के) महीन (= झीन) घूँघट के कपड़े (= पट) के भीतर (= बीच) चंचल नेत्र (ऐसे) चमचमा रहे हैं मानों निर्मल गंगाजल में दो मछलियाँ उछल रही हों [इस दोहे के शब्दों पर ध्यान दीजिए कैसे सरस और अर्थसूचक हैं। मछलियों की उपमा तुलसीदास ने भी बड़ी मनोहर दी है।

"रामहिं चितइ चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीनयुग, जनु विधुमंडल डोल॥"

पलक पट के भीतर नेत्रों का वर्णन सुनिए—

"अटपटात अलसात पलक पट मूँदत कबहूँ करत उघारे;
मनहुँ मुदित मरकत मंनि अंगन खेलत खंजरीट चटकारे।"
(सू० दा०)

इन महाकवि ने घूँघट-पट का भी वर्णन किया है :

"अवलोकत अलसात नवल छवि अमित तोयअति आरत
तमकि तमकि तरकत मृगपति ज्यों घूँघट पटहिं विदारत"]

---

*शेक्सपियर लिखता है "How came her eyes so bright? Hermia's sphery eyne" (M. N. D.)

वर्ड्सवर्थ की उपमा है "Her eye a star of twilight fair," और कोलरिज की "her eye was bright
A well of love, a spring of light."

१—सुरसरिता = देवसरि, गंगा (पृथ्वी पर देवताओं की नदी)।

अलंकारः उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा (नयन घूँघट के बीच गंगा के बीच मीनतुल्य हैं—नयन, विषय)

दृगनु लगत बेधत हियहिं विकल करत अँग आन।
ए तेरे सब तैं विषम ईछन[1] तीछन * बान॥ ४३॥

अर्थः—ये तेरे नयनरूपी तीक्ष्ण बाण सब (बाणों, अन्य प्रकार के वास्तविक बाणों) से विलक्षण हैं (इनकी समानता किसी से नहीं हो सकती। ये अद्भुत अथवा निराले हैं, क्योंकि ये आँखों में (तो) लगते हैं (परन्तु) हृदय को वेधते हैं और अन्य अंगों को विकल करते हैं (देखिए नेत्र-बाणों की विषमता कैसी दिखलाई है और कितना यथार्थ वर्णन है) [बिहारी ने नेत्र-बाण तथा उनके द्वारा कमनैती का अति उत्कृष्ट वर्णन किया है। कटाक्ष-शर अन्य सरों से अधिक दुखदाई होते हैं, क्योंकि इनमें विशेष विलक्षणता है, कुछ तो इनकी बनावट में, कुछ प्रभाव में और कुछ इनके चलाने में, देखिए—

"लागत कुटिल कटाच्छ सर क्यौं न होंहि बेहाल।
कढ़त जु हियो दुसार[2] करि तऊ रहत नटसाल[3]॥"

१—ईछन = ईक्षण = दृष्टि।

* बाबू हरिश्चंद्र लिखते हैं—

"भूलें नाहिं हंसनि तिहारी हरिचन्द तैसी,
बांकी चितवनि हिय फरकि फरकि उठै
वेधि वेधि उठत विसीले नैन बान मेरे,
हिय में कटीली भौंर करकि करकि उठै"

प्रेममाधुरी

२ दुसार, दुसाल, जिसके दोनों ओर छिद्र हों, आरपार।

३ नटसाल = नष्ट शल्य, बाण का वह भाग जो टूट कर बाण के निकल जाने पर भी शरीर के भीतर ही रह जाता है और पीड़ा दिया करता है।

"अलि इन लोचन सरनि को खरो विषम संचार।
लगे लगाये एक से दुहुँ अनि करत सुमार[1] ॥"

अब इन बाणों द्वारा जो विना प्रत्यंचा ही के बने होते हैं चतुर अहेर का वर्णन सुनिए—

"खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेरी मार[2]।
काननचारी नैन मृग नागर नरनि सिकार ॥

"तिय कित कमनैती पढ़ी विनु जिह[3] भौंह कमान।
चल चित बेझो[4] चुकति नहिं बंक विलोकनि वान ॥"

इस संबंध में निम्नलिखित दोहा कवि की निरीक्षण-शक्ति तथा उपमा-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"नीची यै नीची निपट डीठि कुही[5] लौं दौरि।
उठि ऊँचे नीचे दियो मन कुलंग[6] झकझोरि ॥"

वास्तव में ऐसा जान पड़ता है कि नेत्रों के संबंध में जो कुछ कहने अथवा जानने योग्य है या जो कुछ कवि कह सकता

१—सुमार = अच्छी मार।

२—मार = कामदेव।

३—जिह = फ़ारसी शब्द ज़ेह से है = प्रत्यंचा, चिल्ला।

४—बेझा = लक्ष्य, निशाना।

५—कुही = एक पक्षीविशेष जो नीचे ही उड़ते उड़ते एकाएक ऊपर उठ कर जिस पक्षी का शिकार करना होता है उस पर अचानक टूट पड़ता है और उसे झकझोर कर बेदम करके नीचे की ओर झोंक से उतरता है—यह एक प्रकार का छोटा बाज़ होता है—(संस्कृत कुधि)।

६—कुलिङ्ग = एक प्रकार का पक्षी। भृङ्ग, फिङ्गा, तथा गौरवा भी कहते हैं। संस्कृत में यह कलविंक है।

है सब विहारीलाल ने कह डाला है। झाँकने पर एक दोहा सुनिए—

"सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥"—

शब्द-प्रयोग, उपमा और चित्र कैसे विचित्र हैं

आँखों का प्रियतम को ढूँढ़ लेना और उसी पर जा के पड़ना अथवा उससे बातें कर लेना किस मनोहरता से वर्णित है—देखिए :—

"पहुँचत डटि रन सुभट लौं रोकि सकैं सब नाहिं,
लाखनहू की भीर में आँखि उतै चलि जाहिं॥"
"खरी भीरहू भेदि कै कितहू ह्वै उत जाय,
फिरै डीठि जुरि डीठि सों सबकी डीठि बचाय॥"
"सब ही तन समुहाति[1] छिन चलति सबनि दै पीठि
वाही तन ठहराति यह किवलनुमा[2] लौं डीठि॥"

१—समुहति = सामने होती है।

२—किवलनुमा = कविलनुमा, कविल नवी, कवलनवी इत्यादि पाठांतर हैं—इस शब्द का ठीक अर्थ नहीं ज्ञात होता। यदि इसको फ़ारसी शब्द क़िब्लनुमा (दिक प्रदर्शकयन्त्र, जिससे मुसलमान लोग काबा यानी मक्का की दिशा जान लेते थे) का अपभ्रंश समझें तो अर्थ अच्छा निकल सकता है। क्योंकि पत्नी के लिए पति काबा से कम नहीं है। उसी ओर दृष्टि जानी चाहिए, और यदि कृष्ण कवि की तरह इसका अर्थ मन्त्र का कटोरा किया जाय (कवल शब्द कटोरावाचक है) तो दो बातें ठीक बैठ जाती हैं। एक तो "सबनि दै पीठि" का आक्षरिक (literal) अर्थ निकल आता है और दूसरे चतचोर प्रियतम की ओर ठहरना बिलकुल ठीक हो जाता है। (मन्त्रकटोरा जल से भरा हुआ तान्त्रिक मन्त्र द्वारा

(सुन्दर कवि ने भी लिखा है : —
"मंत्र की कटोरी जैसे चली चली डोलति है
चोर ही की ठौर भले आइ ठहराति है")
"भरे भवन में करत हैं नैनन ही सों बात"
"दूरै खरै समीप को मानि लेत मन मोद,
होत दुहुन के दृगन ही बतरस हँसी विनोद ॥"

प्राणपति को नैहर में देखकर इन आँखों की क्या दशा होती है उसको भी सुन लीजिए—

"छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह,
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ।"]

अलंकार—असंगति से पुष्ट काव्यलिंग (बाण को तीक्ष्ण कहकर विकल होने की बात का समर्थन)

*कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुट बनमाल ॥४४॥

अर्थः—(हे नायिका तूने अपने) नेत्र ऐसे लाड़ले क्यों किये हैं । (अर्थात् तूने इतनी सुन्दर आँखें क्यों कीं—देखो तो उनकी सुन्दरता पर मोहित होकर) लाल (प्रियतम कृष्ण) बेसुध पड़े हैं । कहीं मुरली (फेंकी पड़ी है) कहीं पीताम्बर (उतरा पड़ा

चलायमान किया जाता है । वह प्रत्येक बैठे मनुष्य की ओर जाता है और लौट आता है, सिवाय उस मनुष्य के जिसने (वस्तुविशेष की) चोरी की हो। उसके पास जाके वह ठहर जाता है—इससे किसी चोरी गई हुई वस्तु का पता लगाया जाता है) रत्नाकरी टीका में यह दूसरा अर्थ दिया है और 'कविल नवी' का पाठ है । वास्तव में यही अधिक जँचता है ।

* दे० पृष्ठ २६

है) और कहीं मुकुट कहीं बनमाल (गिरे पड़े हैं) [यह कमाल का दोहा है। एक पद में पूरा चित्र और वह भी अति उत्तम। बे-सुधी की दशा, नेत्रों की करनी किस ढङ्ग से वर्णित है। और यदि "लड़ैते" शब्द पर ध्यान दीजिए तो अपूर्व मनोहरता दीख पड़ती है। लड़ैते का अर्थ लड़नेवाले भी हो सकता है। वास्तव में आंख लड़ाने ही से कृष्ण बेहाल पड़े हैं, नायिका के प्रवीण योधाओं ने उनको एकदम पराजित कर दिया है]

अलङ्कार—व्याजस्तुति।

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौ अली चम्पक कली बसि रसु लेतु निसाँक ॥४५॥

अर्थः—(उस नायिका के) सुन्दर (सुहावने, चित्ताकर्षक) नाक में नीलम जड़ी हुई सींक (आभूषण विशेष जिसे लौंग, फुली और लौंगफूल भी कहते हैं) जगमगा रही है मानो भौंरा चंपे की कली पर बैठ कर बेखटके (निःशंक) रस ले रहा है [भौंरा चंपा पर नहीं बैठता किन्तु यह चम्पा की कली ऐसी मुग्धकारिणी है कि सामान्य नियम भी भुलवा देती है]

अलङ्कारः—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (नाक में सींक मानों चम्पककली पर अली। नाक, विषय)

बेसरि मोती दुति झलक परी ओंठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर तिय क्यों पट पोंछ्यौ जाइ ॥४६॥

अर्थः—हे चतुर अर्थात् (लक्षणा शब्दालंकार से) भोली स्त्री यह (तेरे होंठ पर जो सफ़ेदी दीखती है सो नाक में पहनी हुई) बेसरि के मोती की चमक की झलक पड़ी है। (यह पान में खाया हुआ) चूना नहीं है (अतः यह सफेदी) कपड़े से पोंछने से कैसे जा सकती है (तू भूल से उसे बार बार क्यों पोंछ रही है)।

अलङ्कारः भ्रान्त्यापन्हुति ।

बेधक अनियारे नयन बेधत करि न निषेधु[1] ।
बरबट बेधतु मो हियौ तो नासा कौ बेधु ॥४७॥

अर्थः—(तेरे) बेधक (अर्थात् बेधनेवाले) नुकीले (अनिवाले) नेत्र (कोई) वर्जित वा अनुचित कार्य करके नहीं बेधते हैं (अर्थात् वे तो स्वाभाविक ही बेधक हैं। यह तो उनका काम ही है। परन्तु) तेरी (बेधित) नाक का छिद्र बरबस मेरा हृदय बेधता है [नाक इतनी सुन्दर और मनमोहिनी है कि इसने बेधित रहते हुए भी बेधक का काम प्रारम्भ कर दिया है। बिहारी ने बिना आभूषणों के नाक की शोभा में कैसा चमत्कार दिखलाया है]

अलङ्कारः विभावना (चौथी, छिद्र का बेधक होना)

लसतु सेत सारी ढप्यौ तरल तर्यौना कान ।
पर्यौ मनौ सुरसरिसलिल रविप्रतिबिंबु बिहान ॥४८॥

अर्थः—(उस नायिका के) कान में का तरल कर्णफूल श्वेत सारी से ढँका हुआ ऐसा शोभित है मानो गङ्गाजल में प्रातः-काल को सूर्य की परछाहीं पड़ी हो, [तरल शब्द का प्रयोग देखिए। इसका अर्थ है पानी सदृश बहनेवाली वस्तु जिसे अँगरेज़ी में liquid कहते हैं। इससे बहता हुआ, हिलता हुआ, चमकता हुआ आदि अर्थ निकलते हैं, हिलना या तो सारी के हिलने से हो सकता है जैसे जल हिलने से सूर्य का प्रतिबिंब हिलता है अथवा कम्प सात्विक के कारण हो सकता

१—निषेध = वर्जित कार्य, इस शब्द का अर्थ वर्जना भी हो सकता है। "हे प्यारी ! तू नेत्रों को मना मत कर क्योंकि ये तो नुकीले बेधक हैं ही, परन्तु······"

है। दोनों में कवित्व भरा है। श्वेत सारी की उपमा देवसरि से बिहारी ने अन्य स्थान में भी दी है। दे० दो, सं० ४२]

अलङ्कार, उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (तरौना सारी में गङ्गा में सूर्य के तुल्य, तर्यौना विषय)

ललित स्यामलीला[1] ललन बढ़ी चिबुक छवि दून।
मधु छाक्यौ मधुकरु पर्यौ मनौ गुलाब प्रसून * ॥४९॥

अर्थः—हे ललन (नायिका के चिबुक पर) मनोहर श्याम रङ्ग गोदना (के होने) से (उस) चिबुक की छवि दूनी बढ़ गई है (ऐसा जान पड़ता है) मानो पुष्परस से छक कर कोई भौंरा गुलाब के फूल में पड़ा है [बिहारीलाल ने चिबुक का भी बहुत उत्कृष्ट वर्णन किया है। उसके गड्ढे की मनोहरता यों बयान करते हैं—

"तो लखि मोमन जो लही सो गति कही न जाति।
ठोढ़ी गाड़ गड़्यौ तऊ उड़्यौ रहै दिन राति॥

और उसमें गोदने की श्यामता का कारण बतलाते हैं।

"डारे ठोढ़ी गाड़ गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंधि में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि॥"]

अलङ्कारः—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (चिबुक में श्यामलीला मानो प्रसून में भौंरा—चिबुक, विषय)

१—श्यामलीला = गोदना

* "अति दुति ठोढ़ी बिन्दु की ऐसी लखी कहूँ न,
मधुकर मूनु छक्यो पर्यो मनौ गुलाब प्रसून।

विक्रम

सूर[१] उदित हूँ मुदित मन मुखु सुखमा की ओर[२]।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल[३] चखनु[४] चकोर ॥५०॥

अर्थः—(उस नायिका के मुख और चन्द्रमा में कोई भी अंतर नहीं है इसी लिए) सूर्योदय हो जाने पर भी चकोर पक्षी बेखटक आँखों से (निःशंक होकर टकटकी लगाये) चारों ओर से उसके मुखसौंदर्य (वा चमक) की ओर अथवा उसके मुख को जो सौंदर्य की सीमा है प्रसन्न चित्त (होकर) देखते रहते हैं।

अलंकारः भ्रम

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ[५]ई रहै आनन ओप[६]उजास[७] ॥५१॥

अर्थः—(जहाँ ससिमुखी नायिका रहती है) उस घर के आस पास (चारों ओर) केवल पत्रा ही से तिथि का ज्ञान होता है (क्योंकि) उसके (चन्द्र) मुख की चमक के प्रकाश से नित्य प्रति पूर्णमासी ही रहती है (पूर्ण चन्द्रमा का सा प्रकाश प्रति रात्रि को रहता है। इसलिए चन्द्रमा को देखकर उसके प्रकाश से कोई तिथि नहीं बतला सकता। अतः पत्रा ही द्वारा

१—सूर = सूर्य "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगण केशवदास"।

२—ओर = (१) तरफ़, (२) किनारा, सीमा, अवधि।

३—निहचल = निश्चल, जो चलायमान न हो, स्थिर, टकटकी लगाये, बेखटक।

४—चखनु = चक्षु (आंख) का अपभ्रंश बहुवचन।

५—पून्यों = पूर्णिमा, पूर्णमासी।

६ – ओप = चमक।

७—उजास = प्रकाश।

तिथि जानी जा सकती है) (इन दोनों दोहों के साथ दो० सं० १९ देखिए)

अलंकारः—परिसंख्या, काव्यलिंग (पूर्वार्ध का समर्थन उत्तरार्द्ध की युक्ति से)

नैँक हँसौहीँ बानि तजि लख्यौ परतु मुँहुँ नीठि[1] ।
चौका[2] चमकनि चौंध में परति चौंधि* सी डीठि ॥५२॥

अर्थः—(हे नायिका तू) हँसते रहने की बान थोड़ा छोड़ दे (क्योंकि जब तू हँसती है तब) आगे के चारों दाँतों की चमक की चकाचौंध में आँख चौंधिया सी जाती है (जिससे तेरा) मुख कठिनता से दिखलाई पड़ता है (इस एक दोहे में कवि ने दाँतों की मनोहर नेत्राकर्षक चमक, हास्य की मधुरता और मुख का सौंदर्य जिसके देखने के लिए हँसने की बानि छोड़ाई जा रही है एक साथ वर्णन किया है)

अलंकारः—काव्यलिंग (उत्तरार्द्ध बात से पूर्वार्ध का समर्थन) । अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (दाँतों की चमक चौंध के तुल्य, अनुक्त विषय हास्य) ।

---

१ नीठि=कठिनता से ।

२ चौका=आगे के चार दांत (दो ऊपर के दो नीचे के) ।

* केशवदास नायिका के सीस, भाल, कंठ, नाक इत्यादि पर पूरा चकाचौंध का सामान रख कर लिखते हैं—"तैसीये दसनदुति दमकत केसोराय...हरे हरे हँसि नैक चतुर चपल नैन चित चकचौंधे मेरे मदन गोपाल को"

छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलैं[१] अंचर[२] चीर।
मनौ कलानिधि[३] झलमलै कालिंदी[४] कैं नीर ॥५३॥

अर्थः—(उस चन्द्रमुखी का) मुख नील (रंग के) अंचल पट में छिपा हुआ (ऐसी) शोभा दे रहा है मानो यमुना के (नीले) जल में चन्द्रमा झलमला रहा हो।

अलंकारः—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (अंचल पट में मुख कालिंदी में कलानिधि प्रतीत होता है, विषय मुँह)

बड़े कहावत आप सौं गरुवे[५] गोपीनाथ[६]।
तौ बदिहौं[७] जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ ॥५४॥

---

१ पा० झीनैं (=पतला)

२ अंचर=आंचर=अंचल, सारी का वह भाग जो मुख पर ओढ़ा जाता है।

३ कलानिधि=चन्द्रमा, (चन्द्रमा के सोलहों कलाओं अर्थात् अंश— अमृता, मानंदा, पूषा, पुष्टि, तुष्टि, रति, धृति, शशनी, चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा, पूर्णामृता)

४ कालिंदी=यमुना। कलिंद पर्वत से निकली हुई नदी।

५—गरुवे = भारी (गरुवा गरूहू) गंभीर, धैर्यवान्, प्रतिष्ठित।

६—गोप = गो-पालन करनेवाला वा चरानेवाला, उससे स्त्रीलिंग हुआ गोपी—श्रीकृष्ण मथुरा में आकर नंद के घर रहते हुए गौवें चराया करते थे उनके अनेक गोप सखा थे, और गोपियों में वह बहुधा क्रीड़ा किया करते थे। गोपियां उनको अपना आराध्य तथा प्रियतम समझती थीं इसी लिए उनको गोपीनाथ कहा है। इस प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग अति मनोहर है।

७—बदना = शर्त लगाना, दाव बदना, बड़प्पन मान जाना, हार मान जाना, 'जानना' और 'समझना' का प्रयोग भी इस अर्थ में होता है।

अर्थः--(हे) गोपीनाथ (गोपियों के स्वामी श्रीकृष्ण) आप (अपने मन से) तो बड़े (और) गंभीर, धैर्यवान् कहलाते हैं, (परन्तु) मैं आपको तभी जानूँगी जब (आप उस नायिका के अति मनोहर) हाथों को देख कर (अपना) मन (अपने) हाथ में रखे रहेंगे। (आप इतनी गोपियों के नाथ हैं सही, परन्तु उस नायिका के सुन्दर हाथों को देखते ही आप मोहित होकर विवश हो जायँगे और अपना मन उन्हीं हाथों में सौंप देंगे। मन अपने हाथ रखना अथवा दूसरे के हाथ देना मुहावरा है)।

अलंकारः—संभावना

गड़े बड़े छवि छाक[1] छकि छिगुनी छोर[2] छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह दी महदी नैन ॥५५॥

अर्थः—(मेरे) नेत्र सुन्दरता के बड़े नशे से छक कर (नशे में डूबे हुए) (तेरी वा उस नायिका की) कानी उँगली के सिरे से छुटते नहीं—उस स्थान पर नख में मेंहदी लगी है उसी के (सुहावने) लाल रङ्ग में रँग गये हैं (अनुरक्त हो रहे हैं)। [यह सबसे छोटी उँगली के सिरे की शोभा है, पूरे हाथ की शोभा देख कर तो गोपीनाथ अवश्य ही अपना मन हार जायँगे (दे० दो० सं० ५४)।)

अलङ्कारः—गम्योत्प्रेक्षा (नेत्र उँगली में गड़कर मेंहदी में रंगे प्रतीत होते हैं—'मानो' लुप्त है)।

१—छाक = मद्य, नशा, मस्ती (छकना से)

२—छिगुनी = कनिष्ठिका वा कानी उँगली (क्षुद्र अँगुली) ; छोर = किनारा, सिरा।

पग पग मग अगमन[1] परत चरन अरुन दुति झूलि[2]।
ठौर ठौर लखियत[3] उठे दुपहरिया[4] के फूलि ॥५६॥

अर्थः—(नायिका जब रास्ता चलते समय अपने लाल पैर पीछे से उठा कर आगे रखती है तो उसकी आभा झूल पड़ती है। अर्थात् जब पैर रखती है तो उनकी अरुण द्युति तिरछी ऊपर से नीचे आते दीखती है। उसी का वर्णन है। इसमें नायिका की गति और उसके अरुण-चरण दोनों की प्रशंसा है) रास्ते में पग पग पर आगे चरणों की लाल आभा झूल पड़ती है (उसकी शोभा ऐसी मालूम होती है मानो) स्थान स्थान पर दुपहरिया के फूल फूल उठे दीख पड़ते हैं।

अलंकारः—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (अरुण चरण विषय, उसकी द्युति दुपहरिया के फूल के तुल्य है)

पाइ महावरु दैंन कौं नाइनि बैठा आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी[5] एड़ी मीड़ति[6] जाइ ॥५७॥

१—अगमन=आगे, जहाँ अभी पैर गमन नहीं किया, अब पड़ने को है।

२—झूलि पड़ना, झूलना = लटकना, ऊपर से नीचे को आना।

३—लख = देखना, उसी से लखना हुआ, लखियत = दीखते हैं।

४—दुपहरिया = बंधूक पुष्प, यह लाल रङ्ग का फूल दोपहर को बरसात के दिनों में फूलता है।

५.—महावरी = महावर की गोली—नाइनें रुई की गोली बनाकर महावर के गाढ़े रंग में ख़ूब डुबो देती हैं और फिर उसी को मलमल कर रंग निचोड़ती और लगाती जाती हैं। इसी गोली को महावरवटी वा महावरी कहते हैं।

६—मीड़ना, माड़ना, मींजना, मांजना इत्यादि शब्द भिन्न भिन्न प्रसङ्ग में मलना के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

अर्थः—(नायिका के) पैर में महावर लगाने के लिए नाइन लाकर बैठी (परंतु उस नायिका की महावरी सदृश लाल और गोल) पँड़ी (ही) को महावरी समझ कर बार बार मलने लगी (वा मल रही है) [लाल पँड़ी का वर्णन विहारीलाल ने एक और दोहे में बड़ा अच्छा किया है।

कौहर सी पँड़ीन की लाली निरखि सुभाय।
पाय महावर देइ को आप भई बे पाय[१] ॥"

पहली नाइन भोली थी। उसे भ्रम होगया इसलिए पँड़ी ही को महावरी समझ कर मलने लगी। यह दूसरी नाइन चतुर थी पँड़ी पहचान तो गई किंतु उसकी ललाई देख कर चकित हो गई और महावरि न लगा सकी। दूसरे दोहे में पाय और बे पाय का यमक देखिए। घासीराम ने लिखा है—

"पड़ी ठकुराइन की नाइन गहत जबै,
ईंगुर को रंग दौरि आवै दरबर में
दीयो है कि देवो है विचारे सोचे बार बार,
बावरी सी ह्वै रही महावरि लै कर में"]

अलंकारः—भ्रम

स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कैं हथलेयैं[२] हीं हाथ ॥५८॥

अर्थः—पाणिग्रहण करते ही वर और दुलहिन (दोनों) ने स्वेदरूपी जल और रोमांच-रूपी कुश ग्रहण करके (अपना अपना)

२—बेपाय = बिना पैर की, मतिपंगु, चकित, स्तम्भित।

१. हथलेयैं=हथलेश्रा वा हथलेवा में, हथलेश्रा = पाणिग्रहण। विवाह समय पुरुष स्त्री का हाथ पकड़ता है। यह एक दूसरे से सदा प्रेम करने और उसकी रक्षा करने का प्रण होता है।

हृदय हाथ ही के साथ (एक दूसरे के) हाथ में दे दिया। (अर्थात् प्रकट रूप से तो हाथ सौंपे गये और ग्रहण किये गये परंतु वास्तव में हृदय भी सौंप दिये गये। अर्थात् विवाह-समय ही पूर्ण अनुराग होगया, रोंगटे खड़े हो गये और शरीर से पसीना निकलने लगा—पाणिग्रहण का उत्कृष्ट चित्र और अर्थ)

अलंकारः—रूपक

मानहु मुँह दिखरावनी[1] दुलहिहिं करि अनुरागु।
सासु सदनु मन ललनहूँ सौतिनु दियौ सुहागु[2] ॥५९॥

अर्थः—(नववधू आते ही अपने रूप, सौंदर्य, शील तथा गुण से सबकी प्यारी होगई) मानो उससे अनुराग करके मुँहदिखौनी में सासु ने घर (घर की मलिकाई) नायक ने भी (अपना) मन और सपत्नियों ने सुहाग दे दिया (अर्थात् सासु ने प्रवीण और

१—मुँह दिखरावनी = विवाह हो जाने पर जब दुलहिन अपने पति के घर आती है तो मुँह दिखरावनी का रसम होता है जिसमें उसका मुँह दिखलाया जाता है। और लोग (विशेषतः जो पद में बड़े होते हैं) उसको गहना, कपड़ा, रुपया इत्यादि भेट देते हैं। इसी को मुखदिखौनी कहते हैं।

२—सुहाग = सौभाग्य, स्त्री के लिए उसका सौभाग्य पति का प्रेम है। आशीर्वाद में कहते भी हैं सौभाग्यवती हो (तुम्हारे पति जीवित रहें और तुमसे प्रेम करें) यहाँ प्राणपति की प्रीति से मतलब है।

"जाकों प्रिय प्यारो चहै वहै सुहागिनि नारि"।

योग्य गृहिणी समझ कर घर का प्रभुत्व उसे सौंप दिया। प्राण-प्यारे ने उसको अधिकारी समझ कर तथा उसके रूप-गुण-स्वभाव पर प्रेमवश होकर अपना मन या हृदय दे दिया। सौतियों ने उसको अपने से अधिक चित्ताकर्षक तथा प्रेम का अधिकारी समझ कर सौभाग्य दे दिया। अर्थात् पति जितनी प्रीति इन सौतियों से रखता था वह सब प्रीति उन्होंने दुलहिन को दे दी। जिससे पति का पूरा प्रेम उसे अकेले ही मिल गया।)

अलंकारः—सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता (सबका सौंपना)।

कीनैँ हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।
मो मन[1] मोहन रूपु मिलि पानी मैं कौ लौनु ॥६०॥

अर्थः—मेरा मन मोहन के रूप में मिलकर पानी में का नमक हो गया अब कहो कोटि उपाय करने पर भी उसको कौन निकाले [अथवा मेरे मनरूपी मानसरोवर में मोहन का रूप मिलकर पानी में का निमक होगया। अब वह रूप मेरे हृदय से नहीं निकल सकता। रूप में लावण्यता तो है ही और मान-सरोवर पानी ही है—यह अर्थ अच्छा मालूम होता है। किंतु पहला अर्थ इसलिए दिया गया है कि मन का रूप में मिलकर अपने से बाहर चला जाना और फिर उसके लौटा लेने की संभावना न होना अधिक प्रासंगिक जान पड़ता है। मेरा मन उस रूप में मिलकर अपना व्यक्तित्व वा अस्तित्व खो बैठा है]

---

१ मन = (१) हृदय (२) मानसरोवर, मनरूपी मानसरोवर। जब मन को कर्त्ता करेंगे तो न को उकारांत और रुपु के प को अकारान्त कर देना होगा।

अलंकारः—दृष्टांत। श्लेष (मन)

उनकौ हितु[1] उनहीं बनै, कोऊ करौ अनेकु।
फिरतु काकगोलकु[2] भयौ दुहूं देह ज्यौं एकु ॥६१॥

अर्थः—(दम्पति का ऐसा गाढ़ अनुपम प्रेम है कि) उनका प्रेम उन्हीं से (किये) बनता है, (दूसरा) कोई अनेक (उपाय) करे (परन्तु, वैसा प्रेम नहीं बन सकेगा, क्योंकि वहाँ तो) दोनों शरीर में एक (ही) प्राण काकगोलक भया (हुआ) फिरता है [फ़ारसी में ऐसे ही प्रेमियों के लिए कहा है 'एक जाँ दो क़ालिब'—एक जीव दो शरीर]

अलंकारः - विशेषोक्ति (उपाय असफल)। उपमा (जी की गोलक से, देह की काक की आँख से)

सखी सिखावति मान विधि सैननि बरजति बाल।
*हरें[3] कहे मो हीय मैं बसत बिहारीलाल ॥६२॥

अर्थः—सखी (नायिका को) मान करने की विधि सिखा रही है (उसे सुनकर वह) बाला आँखों के संकेत से (उस

---

१ हित = प्रेम, प्यार।

२ काकगोलक = काग के आँख की पुतली। लोकोक्ति है कि काग की दोनों आँखों के लिए वास्तव में एक ही पुतली होती है जो दोनों में फिरा करती है।

३ हरे = धीरे धीरे।

*अमरुक शतक में नायिका मान की शिक्षा पर घबराकर कहती है (सैननि नहीं बरजती)

"नीचैः शंस हृदि स्थितोहि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति"

" My beloved is always in my heart "—Tagore.

सखी को) मना कर रही है (कि) धीरे धीरे कहो (नहीं तो प्रियतम यह वात सुन लेंगे, क्योंकि) विहारीलाल (श्रीकृष्ण) मेरे हृदय (ही) में वसते हैं [गाढ़े प्रेम की दशा देखिए। प्रियतम के हृदय में वसने के संवंध में कवीरदास कहते हैं—

"प्रीतम को पतिश्राँ लिखूँ जो कहुँ होय विदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा सँदेस"]

अलंकारः—काव्यलिंग (वरजने का समर्थन उत्तरार्द्ध से)

ढरे ढार तेहीं ढरत दूजैं ढार ढरैं न।
क्यौं हूँ आनन आन सौं नैना लागत नै[1] न ॥६३॥

अर्थः—(ये मेरे नेत्र जिस) ढार की ओर ढर गये (वस) उसी ओर ढरते हैं (किसी) अन्य ओर नहीं ढरते । किसी प्रकार भी आँखें अन्य मुख से झुक कर वा रीझ कर नहीं लगतीं (अथवा किसी अन्य मुख से नहीं लगती हैं) [दृढ़ प्रेम की दशा]

अलंकारः—अनुप्रास

या अनुरागी चित्त की गति[2] समुझै नहिँ कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥६४॥

अर्थः—इस अनुरागी (प्रेमी चित्त की गति कोई नहीं समझता (इसकी यह दशा है कि) ज्यों ज्यों श्याम रंग में डूवता है त्यों त्यों उज्ज्वल होता है [इस दोहे का अर्थ शृंगार और शांत दोनों रसों में हो सकता है—नायिका श्रीकृष्ण के प्रेम में ज्यों

१—नै = नय कर, झुक कर, रीझ कर। 'नै' के स्थान पर 'है' कर देने से अर्थ साफ़ हो जाता है। किंतु ढार (= ढाल) के लिए नै ही अच्छा होगा।

२—गति = चाल, ढंग, दशा, व्यवस्था।

ज्यों लीन होती है त्यों त्यों उसका चित्त उज्जल होता जाता है अर्थात् गाढ़ प्रेम के आगे किसी प्रकार की श्यामता (कपट, मान इ०) नहीं ठहरती—अथवा भक्त-जन ज्यों ज्यों कृष्ण वा राम की भक्ति में लीन होते हैं त्यों त्यों उनका हृदय पवित्र होता है]

अलंकारः—विषम (दूसरा, स्याम रंग में उज्जल होना)

जौ न जुगुति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुँह दीन।
जौ लहियै सँग सजन[1] तौ धरक[2] नरक हूँ की न ॥६५॥

अर्थः—(हे सखी) मुक्ति के मुख में (मैंने) धूल झोंक दी यदि वह (वा उसमें) प्रियतम मिलाप की युक्ति नहीं है (तो)। (और) यदि साथ में प्रियतम प्राप्त हों तो (मुझे) नरक का भी भय नहीं (अर्थात् विना प्राणपति के मुक्ति का सुख किसी काम का नहीं। और उनके साथ नरक का दुख भी सहन करने योग्य है। तुलसीदास ने भी सीताजी से कहलवाया है :—

"प्राणनाथ करुणायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम विनु रघुकुलकुमुदविधु, सुरपुर नरक समान॥")

अलंकारः—अनुज्ञा (नरक स्वीकार करने और मुक्ति छोड़ देने ही में गुण समझना), काव्यलिंग

छला[3] छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूँवति चाहति लाइ उर पहिरति धरति उतारि ॥६६॥

१—सजन = स्वजन, अपना आदमी वा प्यारा, प्रियतम, गीतों में सजन या साजन और सजनी का बहुत प्रयोग होता है।

२—धरक = धड़क = भय, डर (जैसे बेधड़क) दे० दो० सं० ७२

३—छला = उँगली में पहनने का गहना।

अर्थः—नये प्रेम में (यह स्नेहपूर्ण) स्त्री सुन्दर प्रियतम का छल्ला पाकर (उसको) चूमती है, प्यार करती है, हृदय से लगाकर पहनती है (और फिर) उतार कर धर लेती है। [प्रेमी तथा प्रेमिका को अपने प्रेमपात्र से संबंध रखती हुई प्रत्येक वस्तु प्यारी होती है]।

अलङ्कारः—स्वभावोक्ति (प्रेमिका की दशा का स्वाभाविक वर्णन), कारक दीपक (एक ही कर्त्ता)

> ए काँटे मो पाँय गड़ि लीन्ही मरत जिवाय।
> प्रीति जतावति नीति सों मीत जु काढ्यो आय ॥६७॥

अर्थः—(नायिका के पैर में गड़े हुए काँटे को नायक ने आकर अपने हाथ से निकाल दिया जिससे नायिका को अति आनन्द प्राप्त हुआ। इस प्रियतममिलन के कारणरूप परोपकारी काँटे से) जो प्यारे ने आके निकाला था नीति से (उपकार करनेवाले का अनुग्रह मान कर) नायिका प्रीति जता रही है (और कहती है कि) हे काँटा तूने मेरे पैर में गड़ कर (मुझे) मरते हुए जिला लिया (अर्थात् जिनके दर्शन वा मिलन बिना मैं व्याकुल हो रही थी उनको तूने मिला दिया) [प्रेमी हृदय की दशा देखिए। दुष्यंत के दर्शनार्थ शकुंतला ने भी अपने पैर में एक झूठ-मूठ का काँटा गड़ा लिया था, किंतु वहाँ इससे कम आनन्द था]

अलंकारः—अनुज्ञा (काँटे का सुख देना)

> हँसि उतारि हिय तैं दई तुम जु तिहिँ दिना लाल।
> राखति प्राण कपूर ज्यौं वहै चुहुटिनी[1] माल ॥६८॥

---

१ चुहुटिनी = (१) गुंजा, (लवंग, काली मिरिच अथवा गुंजा इत्यादि को कपूर के साथ रख देने से कपूर उड़ता नहीं) (२) इस शब्द का अर्थ पकड़नेवाली भी हो सकता है अर्थात् (प्राणों को) पकड़नेवाला गुंज (माल) अर्थ करना होगा।

अर्थः—हे लाल (नायिका के गाढ़ प्रेम की यह दशा है कि तुम्हारी अनुपस्थिति में उसकी प्राणरक्षा केवल तुम्हारे किसी स्मरण-चिह्न ही से होती है) तुमने उस दिन हँस के (अपने) हृदय से उतार कर जो (गुंजमाला उसको) दी थी वही गुंजों की माला उसके प्राण को कपूर की तरह रखती है (उसको उड़ जाने अर्थात् शरीर से निकल जाने से रोक लेती है) [प्रियतम की दी हुई वस्तु अति प्यारी होती है। एक मालाही के सम्बन्ध में विहारीलाल कहते हैं।

"नेकौ उहि न जुदी करी हरषि जु दी तुम माल,
उर तें वास छुट्यो नहीं वास छुटे हू लाल।"]

अलंकारः—उपमा, श्लेष

मैं यह तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदंब[1] की माल ॥६९॥

अर्थः—(नायिका को ठाकुरजी की प्रसादमाला पहनते हुए जो वास्तव में प्राणप्यारे की माला थी रोमांचित होते देखकर कोई चतुर सखी कहती है) हे वाला यह अपूर्व भक्ति (जो तुम्हारी अवस्था की स्त्रियों में नहीं होती) मैंने तुझी में देखी कि प्रसाद-माला पाकर (तेरा) शरीर कदंब (के फूलों) की माला (की तरह अर्थात् रोमांचित) हो गया [किसी कारण से चाहे चतुर सखी ने दी हो चाहे प्राणपति की चढ़ाई माला संयोग से देवालय में से मिली हो नायिका को प्रसादमाला के रूप में प्रियतम की माला

१—कदंब, कदम्ब वा कदम—बहुधा गानों में सुना जाता है "झूला पड़े कदम की डार"—कदम का फूल गोल गोल गेंदे की तरह होता है। ऊपर को सारे फूल में रोंगटे सी पीली पीली खड़ी मुलायम सुन्दर नोकें निकली रहती हैं।

मिल गई। रोमांच देखकर कोई सखी समझ गई। चतुर सखी ने प्रियतम-प्रेम को भगवान्-भक्ति कहा है। रामचरितमानस में भी सीता की चतुर सखी प्रेम से आँख बंद किये देखकर गौरी का ध्यान कह रही है—

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, श्यामकिशोर देखि किन लेहू"]

अलंकारः—धर्मवाचक लुप्तोपमा (तन की कदम्ब से, धर्म—रोमांचित, वाचक—की तरह—लुप्त है)।

फिरि फिरि बूझति कहि कहा कह्यौ साँवरे गात।
कहा करत देखे कहाँ अली चली क्यौं बात ॥७०॥

अर्थः—(नायिका किसी सखी से जो उसके प्राणपति के पास से आ रही है) बार बार पूछती है कि हे सखी कहो श्याम-गात (श्रीकृष्ण) ने क्या कहा (तुमने उनको) क्या करते देखा (और) कहाँ (देखा, और हमारी) बात कैसे चली ? [प्रेम की उत्सुक दशा देखिए]

अलंकारः—स्वभावोक्ति

देखौं जागत वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु जातु भजि को जानै किहिँ बाट ॥७१॥

अर्थः—(स्वप्न में प्रियतम से मकान के भीतर ही भेंट होती है) परंतु जागने पर किवाड़ में वैसी ही ज़ंज़ीर (जैसी रात्रि को सोते समय दी थी) लगी देखती हूँ—कौन जाने किधर होकर (अर्थात् किस मार्ग से) आते हैं और किस मार्ग (बाट) से भाग जाते हैं।

अलंकारः—तीसरी विभावना (प्रतिबंध कपाट रहते भी आने जाने का कार्य हो जाना)।

कर मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ।
पीठि दियैं निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ॥७२॥

अर्थः—(अपने) हाथ की अँगूठी के दर्पण में (पीछे खड़े हुए प्राण) पति को प्रतिबिंबित पाकर (उनकी परछाहीं उसमें देखकर नायिका उनकी ओर) पीठ दिये बेखटके (विना इस डर के कि कोई इस प्रकार पति को देखते देखेगा तो मुझे संकुचित होना पड़ेगा, अथवा लज्जावान् नेत्र स्वयं नहीं देख सकेंगे) एक टक आँख लगाये देख रही है। [पाइ शब्द पर विशेष ध्यान दीजिए। गोस्वामीजी का वर्णन कवितावली में सीता के संबंध में सुनिए :—

"राम के रूप निहारति जानकी कंकण के नग की परिछाहीं
ताते सबै सुध भूल गई कर टेक रही पल टारति नाहीं"]

अलंकारः—तीसरी विभावना, (पीठ देना विरुद्ध कारण होते हुए भी देखने का कार्य होना)।

ठाढ़ी मंदिर पै लखै मोहन दुति सुकुमारि।
तन थाकैं हूँ ना थकै चख चित चतुर निहारि ॥७३॥

अर्थः—वह सुकुमारि (नायिका) मंदिर पर खड़ी होकर मोहन की छवि (सौंदर्य, कांति) देख रही है। (खड़े खड़े उसके कोमल) शरीर के थक जाने पर भी हे चतुर (सखी, चतुरि) देखो उसके नेत्र और चित नहीं थकते। (चतुर इसलिए कि वह प्रेमाधिक्य का प्रभाव समझती है) अथवा शरीर थकने पर भी नेत्र और चतुर चित (वह रूप) निहार कर नहीं थकते (चतुर इसलिए कि वह जानता है कि प्रियतम के दर्शन का आनन्द शरीर थकने की पीड़ा से कहीं अधिक है) [और नेत्र कब के थकनेवाले; ये तो—

"नख सिख रूप भरे खरे तऊ माँगत मुसुकानि ।
तजत न लोचन लालची ये ललचौंही वानि ॥"]

अलंकारः—विशेषोक्ति

लाल तुम्हारे रूप की कहौ रीति यह कौन ।
जासौं लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न* ॥७४॥

अर्थः—हे लाल कहो (तो तुम्हारे (चित्ताकर्षक) रूप की यह कौन (विचित्र) रीति है (कि) जिस से नेत्र (यदि) क्षण-मात्र के लिए भी (पलकु) लगते हैं (अर्थात् उस रूप का दर्शन करते हैं) (तो फिर) एक पल भी पलक नहीं लगता (नींद नहीं आती) अथवा एक पल भी पलक से नहीं लगते (आँखें सदा खुली ही रहती हैं)

अलंकारः—व्याजस्तुति । विरोधाभास । अनुप्रास

लोभ लगे हरि रूप के करी साँटि[1] जुरि जाइ ।
हौं इन वेची वीच हीं लोइन वड़ी वलाइ ॥७५॥

अर्थः—(ये मेरे) नेत्र वड़ी वलाय हैं इन्होंने कृष्ण के रूप (सौंदर्य, रूप-रूपी रुपया) के लालच में पड़ कर (उनसे वा अपने सजाती उनके नेत्रों से) मिलकर (जुरि=जुटकर, मिलकर) सौदे की वातचीत की (और) मुझे वीच ही में (विना मेरी अनुमति लिये ही) वेंच डाला [नेत्रों की काररवाई और नायिका की दशा देखिए—और यह वलाय भी साधारण नहीं है, क्योंकि ये नेत्र शिक्षा भी नहीं सुनते । इनसे कोई वस ही नहीं चलता ।

*"ना खिन टरत टारे आंखि न लगत पल ।
आंखिन लगे री स्याम सुन्दर सलौन से" ॥ देव ॥

१—सांटि=सौदे की वातचीत अथवा हेलमेल ।

"नैना नेकु न मानहीं कितो कहौं समझाय,
तन मन हारेहु हँसे तिनसों कहा वसाय।"]

अलंकार:—रूपक (लोचन अर्थाक्षिप्त दल्लाल है)। अनुप्रास

डर न टरै नींद न परै[1] हरै न काल विपाकु[2]।
छिनकु छाकि[3] उछकै[4] न फिरि खरौ[5] विषमु छविछाकु[6] ॥७६॥

अर्थ:—छवि का नशा बड़ा विषम (कठिन अथवा सादृश्य-रहित) होता है; क्षण-मात्र भी पी लेने पर फिर नहीं उतरता (अन्य नशाओं को बार बार पीना पड़ता है), न तो डर (ही) से टलता है (बहुत से नशे डर के मारे उतर जाते हैं), न नींद (ही इसको) शांत करती है (नींद आती ही नहीं। बहुत से नशे नींद से भी दूर हो जाते हैं), न समय का व्यतीत होना (ही इसे) हरता है (कुछ नशे नियत काल पूरे होने पर छूट जाते हैं)

[सूरदास लिखते हैं—

"मोहन मुख मुसकानि मनहुँ विष जाति मरे सो मारे,
फुरै न मंत्र जंत्र गति नाहीं चले गुनी गुन हारे,
प्रेम प्रीति विष हिरदै लागी डारत हैं तनु जारे,
निर्विष होत नहीं कैसेहु करि बहुत गुनी पचिहारे,"

Mrs. Behn लिखती है "O love that stronger art than wine."

१—परै, पड़ना शब्द साधारण अर्थ के अतिरिक्त शांत होने के अर्थ में भी आता है जैसे 'हवा पड़ गई'।

२—कालविपाक = नियत समय का व्यतीत होना।

३—छाकि = छक लेने पर = पी लेने पर।

४—उछकना = उतरना, उचटना।

५—खरौ = बड़ा।

६—छवि छाक = छवि वा सौंदर्य का नशा, रूप की आसक्ति।

अलङ्कारः—व्यतिरेक, अनुप्रास

मैं हो जान्यौ[१] लोइननु जुरत बाढ़िहै जोति ।
को हो जानतु दीठि कौं दीठि किरकिरी होति ॥७७॥

अर्थः—मैं (तो) जानती थी कि आँखों के मिलने से (उनकी) ज्योति बढ़ेगी (दो दो चार हो जायँगी—अर्थात् प्रेम का परिणाम में आनन्द समझती थी)। कौन जानता था कि आँख के लिए आँख ही किरकिरी हो जाती है। (जैसे किरकिरी पड़ने से आदमी को पीड़ा होती है और आँसू बहा करते हैं वैसे ही प्रेम हो जाने पर भी आँसू बहा करते हैं) [कम से कम आँखों को एक दूसरे की पीड़ा समझनी चाहिए थी। सजातियों में सहानुभूति की आशा की जाती है। कौन जानता था कि आँखें इस नियम को तोड़ कर धोखा देंगी!]

अलंकारः—तीसरा विषम ।

कोरि जतन कीजै तऊ नागरि नेह दुरै न ।
कहे देत चितु चीकनौ नई रुखाई नैन ॥७८॥

अर्थः—हे नागरी (चतुर नायिका, चतुर इसलिए कि वह अपने जाने में चतुरता करके प्रेम छिपाना चाहती है) करोड़ों उपाय किये जायँ तब भी प्रेम नहीं छिपता। (तेरे) नयन की नई रुखाई (जो पहले नहीं थी अर्थात् बनावटी रोष वा झुँझलाना इत्यादि) हृदय का चिकनापन कहे देती है (बतला देती है कि तेरा हृदय प्रेम से स्निग्ध है) [नयन की रुखाई चित्त का चिकनापन बताती है। 'नागर' और 'कहैं' पाठ रखने पर नागर नेह एक में करना होगा अर्थात् (उस) नागर का (विलक्षण) नेह।

१—मैं हो जान्यौ = मैं जानती थी; को हो जानतु = कौन जानता था ।

और कहें का कर्त्ता नैन को करना पड़ेगा—नेत्र प्रेम अवश्य ही प्रकट कर देंगे; देखिए—

"प्रेम अडोल डुलै नहीं मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी चितवनि माँहि लखाय" ॥
"प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं नैन देत हैं रोय" ॥ कबीर]

अलंकारः—विभावना (तीसरी, प्रतिबंध जतन होते हुए भी नेह खुल जाता है; पाँचवीं, रुखाई कारण से चीकना कार्य)

लखि गुरुजन[1] विच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियें लगाई बाम[2] ॥७९॥

अर्थः—गुरुजनों के बीच (नायिका को) देखकर कृष्ण ने (अपना) सिर कमल से छुवाया (अर्थात् यह सूचित किया कि मैं अपना सिर तेरे पदपद्मों से लगाता हूँ, पैर पड़ता हूँ)। राधिका ने (इसका भाव समझ कर) आरसी (दर्पण) को कृष्ण के सामने करके (अपने) हृदय में लगा लिया (अर्थात् यह सूचित किया कि मैं अपने दर्पण-समान स्वच्छ निष्कपट हृदय में आपकी मूर्ति धारण करती हूँ)।

अलंकारः—सूक्ष्म (संकेत ही संकेत)

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै दैन कहैं नटि जाइ ॥८०॥

१—गुरुजन—बड़े लोग, माता, पिता इत्यादि जिनके बीच लज्जा और भय के साथ रहा जाता है।

२—बाम = बामा = बाम भागवाली = अर्द्धांगिनी, नायिका, राधिका।

अर्थः—प्रियतम से वार्तालाप के आनंद के लालच से (राधिका ने उनकी) बाँसुरी (कहीं) छिपा के रख दी। (जब श्रीकृष्ण) सौंह करते हैं (शपथ खाते हैं कि सच बता दो, मैं बड़ा अनुगृहीत हूँगा इत्यादि) तो (राधिका) भौंहों में हँसती हैं (और जब कृष्ण) देने को कहते हैं (कि मुरली दे दो) तो (वह) मुकर जाती हैं। ['करै' और 'कहै' पाठ रखने पर प्रत्येक क्रिया का कर्त्ता राधिका होगी। कभी शपथ खाती हैं, फिर भौंहों से मुसकराती हैं। कभी देने को कहती हैं फिर मुकर जाती हैं]

अलङ्कारः—स्वभावोक्ति (राधा कृष्ण के हँसी खेल का स्वाभाविक वर्णन) अथवा कारक दीपक।

नाँक चढ़ै[1] सीबी[2] करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल[3] ॥८१॥

अर्थः—(वह) छैलछबीली (सजी धजी सुन्दरी नायिका) जितना ही अथवा जिस ओर से (पति के चलने के कारण) नाक चढ़ाकर 'सी' 'सी' का शब्द करती है (संग चलते हुए प्राणपति के पैरों में कंकड़ी गड़ते देखकर वह पीड़ित होती है, 'सी' कार करती है और उनको चिकने रास्ते पर चलने के लिए कहती है। प्रियतम चिकनी पगडंडी उसके लिए छोड़कर आप कँकरीले रास्ते पर चलता है। नायिका के बहुत कहने पर कुछ देर तक कंकड़ियों को बरा के चलता है किंतु स्त्री का बरजना और सीत्कार करना उसे ऐसा आनन्द देता है कि) पति बार-बार

१—पा० मोरि।

२—सीबी = 'सी' कार करना, सीत्कार।

३—गैल = रास्ता (पाठकों ने बहुधा गानों में सुना होगा "मोसे गैल चलो न जाय")

भूलकर (ऐसा जनाता हुआ कि वह सचमुच भूल गया) वही कँकरीला रास्ता पकड़ लेता है [सजेधजे परंतु नंगे पैर चलने से अनुमान होता कि स्त्री-पुरुष देव-पूजन को जा रहे हैं]

अलंकारः असंगति तथा तीसरी विभावना

मोहि दयौ मेरौ भयौ रहतु जु मिलि जिय साथ।
सो मनु बाँधि न सौंपियै पिय सौतिनि के हाथ ॥८२॥

अर्थः—(हे प्राणपति) मुझको दिया हुआ (आपका मन) जो मेरा भया हुआ (मेरा होकर मेरे) प्राण के साथ मिलकर रहता है (अथवा जिसको मिलकर वा जिसके मिलने से मेरा प्राण मेरे साथ रहता है) वह मन बाँध करके (बरबस, जो स्वयं जाना नहीं चाहता) सपत्नी के हाथ न सौंपिए (नहीं तो मेरा प्राण भी मुझको छोड़ देगा) [उक्ति देखिए]

अलंकारः काव्यलिङ्ग (सौतियों को न सौंपिए इसका समर्थन पूर्वार्द्ध से है)।

मार्‌यौ मनुहारिनु भरी गार्‌यौ खरी मिठाहिँ।
वाकौ अति अनखाहटौ[1] मुसकाहट विनु नाहिँ ॥८३॥

अर्थः—(उस नायिका वा प्यारी की) मार भी मनुहारियों (मन हरण करनेवाली रीतियों वा प्यार) से भरी हुई है (और उसकी) गाली भी बड़ी मीठी लगती है। उसका अत्यन्त क्रोधयुक्त बात करना भी विना मुसक्यान के नहीं (होता) (उसमें इतनी मनोहरता भरी है और वह इतनी हँसमुख है कि उसके प्रत्येक कार्य में चाहे वह साधारणतः दुखद ही क्यों न हो एक मधुर

१—अनखाहट = क्रोध वा क्रोधयुक्त बातें, "अति अनखौहैं नैन" विहारी, (अनख = अन, बुरा + अक्ष = आंख, क्रोध, झुँझलाहट)

रस भरा रहता है) [प्यारी के क्रोध में भी इतना रस भरा है कि कभी कभी नायक उस रस के लिए जान जान कर उसे क्रोधित करता है।

"मन न मनावन को करै देत रुठाइ रुठाइ।
कौतुक लागे प्रिय प्रिया खिझहू रिझवति जाइ।"]

अलंकारः—विरोधाभास।

राति द्यौस हौंसै[1] रहै मानु न ठिकु ठहराइ।
जेतौ औगुनु ढूँढ़ियै गुनै हाथ परि जाइ ॥८४॥

अर्थः—(हे सखी मुझे) रात दिन अभिलाषा रहती है (कि प्रियतम से मान करके मान का भी आनंद उठाऊँ परन्तु क्या करूँ) मान स्थिर ठहरता नहीं (अथवा ठीक ठहरता नहीं अर्थात् मान किये बनता नहीं। कारण इसका यह है कि मान करने के निमित्त प्राणपति में) जितना ही अवगुण ढूँढ़िए (ढूँढ़ा जाय उतना ही) गुण ही हाथ पड़ जाता है (प्रियतम के गुण ही गुण देख पड़ते हैं)

[विहारीलाल ने मान का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन किया है। पति-अनुरागिणी स्त्री की इच्छा रहने पर भी मान न कर सकना इन्होंने ख़ूब लिखा है।

"सतर भौंह रूखे वचन करत कठिन मन नीठि।
कहा करौं है जाति हरि हेरि हसौंही डीठि॥"
"दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत।
हौं कसुकै रिसहे करौं ये निसिखे हँसि देत॥"

१—हौंस = फ़ारसी शब्द हवस (= लालच)

"तुहूँ कहै हौं आपुहू समुझति सबै सयान।
लखि मोहन जो मनु रहै तौ राखौं मनमान ॥"

अंतिम दोहा पराकाष्ठा को पहुँच गया]

अलंकारः—व्याज-स्तुति

ललन चलनु सुनि चुपु रही बोली आपु न ईठि[1] ।
राख्यौ गहि गाढ़ै[2] गरैं मनौ गलगली[3] डीठि ॥८५॥

अर्थः—प्रियतम के (परदेश) गमन (की बात उन्हीं से सुनकर और उनके आँसूभरे नेत्र देखकर वह नायिका) चुप रही; वह स्वयं प्रेमपूर्वक (कुछ भी) न बोली (अर्थात् उसने अनुरागपूर्वक अपने विरह-दुख की कोई बात न कही) मानों (प्रियतम की) सजल दृष्टि ने (उसके) गले में (वाणी वा वचन को) ज़ोर से दबा (पकड़) रक्खा (अर्थात पति को डबडबाये देखकर उसने प्रेम वा विरह की कोई बात न चलाई। दुख अनुभव करने के लक्षण तो पति की आँखों ही ने प्रकट कर दिये। अब थोड़ा और कष्ट देना नायिका ने उचित न समझा, यदि वह स्वयं न रोते होते तो शायद कुछ कहती भी)।

अलङ्कारः—अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (बात अनुक्त है)

१—ईठि = इष्ट करके, प्रेमपूर्वक, यह शब्द इष्ट का विकृत रूप है। इसका अर्थ मित्र वा सखी भी है। ऐसा अर्थ रखने पर 'ईठि' को संबोधन समझना होगा 'हे सखी वह नायिका प्रियतम के चलने...

२—गाढ़ैं = ख़ूब, ज़ोर से, गाढ़ता से।

३—गलगली = डबडबाई हुई, अश्रुपूर्ण।

ललन चलनु सुनि पलनु में अँसुवा झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीँ जमुहाइ ॥८६॥

अर्थः—प्रियतम के (परदेश) गमन (की बात) सुनकर (नायिका के) पलकों में आँसू झलकने लगे (आँखों में आँसू भर आये । परन्तु वह चतुर नायिका) झूठे ही जम्हाई लेकर (जिससे ऐसा जान पड़े कि आँसू प्रेम के नहीं वरन् जम्हाई के हैं) सखियों से भी लक्षित न हुई (सखियाँ भी यह मर्म न समझ सकीं)

अलंकारः-युक्ति (जम्हाई द्वारा भेद छिपाना)

चलत चलत लौं लै चलैं सब सुख संग लगाइ ।
ग्रीषम वासर सिसिर निसि प्यौ मो पास बसाइ ॥८७॥

अर्थ—(प्रियतम के चले जाने पर तो न जाने क्या दशा होगी, अभी) चलते चलते तक (अर्थात् चलते ही समय) मेरे पास शिशिर की रात्रि में ग्रीष्म के दिन बसाकर (प्राण) पति सब सुख (अपने) साथ लगा ले चलते हैं (अथवा 'लै चलै' ले चले) [प्रस्थान ही के समय विरह-दाह ने जाड़े की रात में गरमी के दिन की सी गरमी पैदा कर दी । अब दिन की दशा तो कौन वर्णन करे। यदि शिशिर की रात्रि और ग्रीष्म का दिन अलग अलग लें तो भी अर्थ हो जायगा किन्तु ऐसा रस नहीं आ सकता—'जैसे जाड़े की रात काटे नहीं कटती और गरमी का दिन व्यतीत नहीं होता वैसे ही रात्रि और दिन मेरे पास बसा कर.......... ']

अलंकारः-गम्योत्प्रेक्षा (सिसिर निसि मानो ग्रीष्म वासर होगई । मानो लुप्त) ।

पूस मास सुनि सखिनु पैं साईं चलत सवारु[१] ।
गहि कर बीन[२] प्रवीन तिय राग्यौ रागु मलारु[३] ॥८८॥

अर्थः—पूस के महीने में सखियों से (यह) सुनकर कि प्राणपति सवेरे (परदेश) चल रहे हैं (जाने को प्रस्तुत हैं वा जायँगे) प्रवीण स्त्री ने हाथ में वीणा लेकर मलार राग अलापा अर्थात् वह मलार राग गाने लगी, जिससे पानी बरस जाय और प्राणपति का गमन रुक जाय)—[पूस में वर्षा नहीं होती । इसलिए जब संगीत विद्या में निपुण नायिका पानी बरसा देगी तो अकाल वृष्टि के कारण जिसमें यात्रा निषिद्ध है पति को रुक जाना होगा । इस प्रवीण नायिका की चतुरता देखिए । विरह-दुख का वर्णन न करके, निष्फल आँसू न बहा करके गाना ही आरम्भ कर दिया और अपनी योग्यता से विरह को पास नहीं आने दिया ।]

अलंकारः पर्यायोक्ति अथवा आक्षेप ।

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट[४] ।
ललन चलन की चित धरी कल न पलनु की ओट ॥८९॥

अर्थः—(हे सखी तू ही) कह (प्राणपति के परदेश चले जाने पर) ये मेरे चंचल (जो सहज ही चलायमान हैं अर्थात् जिनका

१—सवारु = सबेरे, प्रातःकाल ।

२—बीन = (वीणा) एक बाजा जो सितार से बड़ा उसी तरह का होता है और जिसके दोनों ओर बड़े बड़े तूँबे होते हैं ।

३—मलार = एक राग है जिसके विधि-पूर्वक गाने वा बजाने से पानी बरसने लगता है । यह राग वर्षा ऋतु का, रात्रि के दूसरे पहर का है । मलार मेघराग का छठा पुत्र माना जाता है ।

४—अगोट = अग्र + ओट = ओट, आड़ ।

स्वभाव ही चलना है) किसकी रुकावट से रहेंगे (अर्थात् ये भी चले जायँगे) प्रियतम ने गमन ठाना है (चलना निश्चय किया है, और अभी उनके) पलकों की आड़ में (उनके सामने न रहने से मुझे) चैन नहीं (पड़ती)

अलंकारः—अनुप्रास। वक्रोक्ति।

अजौं न आए सहज रँग विरह दूवरैं गात।
अबहीं कहा चलाइयति ललन चलन की बात ॥९०॥

अर्थः—हे प्रियतम अभी चलने की बात क्या चलाई जाती है वा चलाते हो (अर्थात् अभी आप चलने का नाम क्यों लेते हैं) अभी तो (प्रथम) विरह के कारण दुबले भये हुए शरीर में स्वाभाविक रंग भी नहीं आया (प्रथम वियोग का कठोर प्रभाव तो अभी मिटा नहीं यह दूसरा कैसे सह सकती हूँ)। [द्वितीय चरण का माधुर्य देखिए—विरह दूबरे गात में सहज रंग का आना वर्णन करके कवि ने बड़ा ही कौशल* दिखलाया है।]

---

*पं० पद्मसिंह शर्मा ने इस दोहे का मुक़ाबला गाथा सप्तशती के निम्नलिखित श्लोक से किया है और इसी को उच्च स्थान दिया है।

"अव्वो दुक्कर आरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्य।
अज्ज विण होन्ति सरला वेणीय तरङ्गिणो चिउरा" ॥ ३।७३

अर्थात् संस्कृत में "अव्वो दुष्करकारक पुनरीत चिंतां करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवेति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः॥

अर्थात् अभी तो वेणी बांधने से उलझे हुए केश भी सुलझ कर सीधे नहीं हो पाये। फिर तुम्हें जाने की सूझी।

अलङ्कारः—छेकानुप्रास, आक्षेप ।

चाह भरीं अति रस भरीं बिरह भरीं सब बात ।
कोरि सँदेसे दुहुनु के चले पौरि[1] लौं जात ॥९१॥

अर्थः—(प्रेमाधिक्य के कारण दम्पति से वियोग सहा नहीं जाता । यहाँ तक कि पति के परदेश गमन समय) पौर तक जाते जाते दोनों के कोटि संदेशे चले (आये और गये)—सब बातें (दम्पति की इतनी ही देर में, मिलने की) अभिलाषा, अत्यन्त प्रेम और विछोह से भर गईं ।

अलङ्कारः—लटानुप्रास ।

मिलि चलि चलि मिलि मिलि चलत आँगन अथयौ भानु ।
भयो मुहूरत[2] भोर कौ पौरिहिं प्रथमु मिलानु ॥९२॥

अर्थः—(नायक के परदेश चलने समय नायिका से) भेंट कर के चलते (फिर) चल के भेंट करते (और फिर भेंट करके) चलते आँगन (ही) में सूर्यास्त होगया (प्रेमाधिक्य से चलते नहीं बना घर के बाहर भी न जा सके, इसलिए) प्रातःकाल के मुहूर्त का प्रथम मिलानु (पहला मुक़ाम, पड़ाव) पौरी (बरोठा, ड्योढ़ी) ही में हुआ ।

अलङ्कारः—प्रेमात्युक्ति, अनुप्रास

कहा भयौ जौ बीछुरे मो मन तो मन साथ ।
उड़ी जाउ कितहूँ तऊ गुड़ी उड़ाइक हाथ ॥९३॥

१—पौरि = बरोठा ।

२—मुहूरत = मुहूर्तः = एक दिनरात का ३०वां अंश, २ दंड काल, समय, वह समय जब कोई शुभ कार्य किया जाय ।

अर्थः—(हे प्रिये अथवा प्रियतम ! हम लोग) जो बिछुरे (अलग अलग हुए) तो क्या हुआ ? मेरा मन (तो) तेरे मन के साथ (ही) है (जैसे) पतंग कहीं उड़ जाय तिस पर भी वह उड़ानेवाले के हाथ ही में है (अर्थात् प्रेम की डोरी से मेरा मन तेरे मन से बँधा है। तू जब चाहे मुझे आकर्षित करले)

अलङ्कार—दृष्टांत

जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि ।
आँखिनु आँखि लगी रहैं आँखैं लागति नाँहि ॥९४॥

अर्थः—जब जब उनकी (नायक वा उसकी आँखों की, अथवा नायिका वा उसकी आँखों की) सुधि की जाती है (अर्थात् जब जब सुधि आती है) तब तब (और) सब सुधि (भूल) जाती है (उनकी) आँखों (ही) से आँखें लगी रहती हैं। (इसी में) आँख नहीं लगती (अर्थात् नींद नहीं आती) [सामने खड़ी काल्पनिक मूर्ति की ओर टकटकी लगी रहती है अथवा मेरे हृदय की आँखें उनकी आँखों से लगी रहती हैं और स्वाभाविक नेत्रों को नींद नहीं आती]

अलंकारः—यमक, विरोधाभास

कागद पर लिखत न बनत कहत संदेसु लजात ।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात ॥९५॥

अर्थः—(हे प्रियतम ! अपनी दशा का वर्णन मुझसे) कागद पर (अश्रु, कंप इत्यादि के कारण) लिखते नहीं बनता (और किसी दूत से प्रेम वा विरह) संदेश कहते (मेरा हृदय) लजाता है (अतः मैं अपनी विरह-व्यथा न तो पत्र में लिख सकती हूँ न किसी से कहला सकती हूँ। बस इतना ही लिख देती हूँ कि) मेरे हृदय

की बात सब तेरा ही हृदय कह देगा (क्योंकि एक तो मेरा हृदय तुम्हारे ही पास है। दूसरे तुम अपनी ही व्यथा से मेरी व्यथा का भी अनुमान कर लेना)।

अलङ्कारः—प्रेमात्युक्ति

तर झुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिरकाइ।
पिय पाती बिन हीं लिखी बाँची बिरह बलाइ ॥९६॥

अर्थः—नीचे की ओर कुछ कुछ जली (झुलसी) हुई (विरह-ताप से अथवा कंप इत्यादि के कारण हाथ से छूट कर दीया इत्यादि पर पड़ जाने से और) ऊपर की ओर कज्जलयुत जल से छिरकी गली हुई (गरी) चिट्ठी में पति ने बिना लिखे ही विरह-व्यथा बाँच ली (इन चिह्नों को देखकर समझ गया कि वियोग ने प्राणप्यारी को कितना सताया है) [बिना लिखी पाती भेज देना अथवा विरह-व्यथा न लिखने पर भी पति का समझ जाना प्रेम तथा विरह का आधिक्य सूचित करता है। एक और दोहे में कहा है—

"विरह विकल बिनही लिखी पाती दई पठाय।
आँक विहीनीयों सुचित सूनै बाँचत जाय।"]

अलङ्कारः—अनुमान, विभावना (लिखना कारण के बिना ही बाँचना कार्य हो जाना)

कर लै चूमि चढ़ाइ सिर* उर लगाइ भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति[1] बाँचति धरति समेटि ॥९७॥

---

*सेनापति भी लिखते हैं "माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि छाती लपटाय राखी पाती प्रान-पति की"।

१—पा० तिया।

अर्थः—(प्रोषितपतिका नायिका) प्रियतम की चिट्ठी पाकर (उसको) हाथ में लेकर, (प्रेम के मारे) चूम कर (आदर के साथ) सिर चढ़ा कर, (विरहाग्नि से संतप्त छाती को शीतल करने के लिए प्रेम-पूर्वक) छाती से लगा कर (और) भुजाओं से भेंट कर (उसे) देखती, बाँचती और चपत कर धरती है। [पाती को छाती से लगाने के संबंध में बिहारीलाल लिखते हैंः—

"रँग राती राते हिये प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय।"—

तोष कवि ने लिखा है—

"कहै कवि तोष जिय जानि दुख काती ताते,
छाती की तवीज पिय पाती को किये रहै।
नेकु न पत्याती दिन राती इस भाँती प्यारी,
विरह अपाती ताको कातीसी लिये रहै" ॥]

अलङ्कारः—कारक दीपक

वाम बाँह* फरकति मिलैं जौं हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥९८॥

अर्थः—(हे मेरी) बाँई भुजा (तू जो) फरकती है (और प्राणपति का शुभागमन सूचित करती है तो मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि) यदि प्राणाधार श्रीकृष्ण (आ) मिलें तो मैं दाहिनी बाँह को दूर हटा कर तुझी से उनको भेटूँगी।

---

*आर्या सप्तशती में भी लिखा है।—

"प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः।
प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम्"

अलङ्कारः—संभावना

रहे बरोठे* में मिलत पिउ प्राननु के ईसु[१] ।
आवत आवत की भई विधि की घरी[२] घरी सु[३] ॥९९॥

अर्थः—(परदेश से आये हुए) प्राणेश्वर प्रियतम बरोठे में (कुछ समय तक मित्रों वा गुरुजनों से) मिलते रहे (जिससे नायिका से भेंट होने में विलम्ब होगया। बरोठे में से घर में) आते आते की घड़ी (जो प्रतीक्षा में बीती) सो घरी ब्रह्मा की घरी होगई। [प्रेमी से मिलने की प्रतीक्षा में घड़ियों और फ़ासिले का हिसाब ही और कुछ हो जाता है। फ़ासिला पर लिखते हैं:—

"जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तउ ग्वैंड़ो घर को भयो पैंड़ो कोस हजार॥"

इतनी प्रतीक्षा का तत्काल प्राप्त फल कितना मधुर और सुखद है उसको भी सुन लीजिए—

"मलिन देह वेई बसन मलिन विरह के रूप।
पिय आगम औरै चढ़ी आनन ओप अनूप॥"]

---

*"देव दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरी लौं, केहरी सी सांसैं खरी खरकि खरकि उठैं" देव

१—एकवचन 'इसु' बहुवचन 'रहे मिलत' क्रिया के साथ ठीक नहीं बैठता। रत्नाकरजी की राय कि पहला पद "रह्यौ बरोठे में मिलतु पिउ प्राननु कौ ईसु" होता तो बहुत अच्छा होता ठीक जान पड़ती है। ईसु = ईश।

२—विधि (ब्रह्मा) की घड़ी बहुत ही बड़ी होती है। ब्रह्मा का एक दिन-रात = एक कल्प = ८६४०००००० वर्ष (बांगाला भाषार अभिधान)

३—'सु' शब्द 'सो' का लघुरूप है।

अलङ्कारः—वाचकधर्म लुप्तोपमा (घरी की विधि की घरी से, वाचक—समान, धर्म—बड़ी वा लम्बी, लुप्त)।

जद्यपि सुंदर सुघर[1] पुनि सगुनौ[2] दीपक देह।
तऊ प्रकासु करै तितौ भरियै जितैं सनेह ॥१००॥

अर्थः—यद्यपि दीपक-रूपी शरीर सौंदर्यवान, अच्छा बना हुआ और गुणयुक्त है (शुभगुणसंपन्न, बत्ती सहित) तो भी (यह) उतना ही प्रकाश करता है जितना स्नेह (प्रेम, तेल) भरा जाय—[स्नेह सुन्दर शरीर के लिए उतना ही आवश्यक है जितना दिया के लिए तेल। प्रकाश अर्थात् वास्तविक शोभा उसी से है]

अलङ्कारः—रूपक, श्लेष।

लाल सलोने अरु रहे अति सनेह सों पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि ॥१०१॥

अर्थः—हे लाल आप सुन्दर (भी हैं) और प्रेम में (भी) पगे हैं (अति प्रेमी हैं) (तथापि) थोड़ी सी कचाई भी (कपट इत्यादि) (वैसे ही) दुख देती है जैसे सूरन (की कचाई) मुँह में लगकर (काटती है)।

अलङ्कारः—पूर्णोपमा

सकत न तुव ताते बचन मोरस कौ रसु खोइ।
खिन खिन औटे खीर लौं खरौ सवादिलु होइ ॥१०२॥

अर्थः—(हे प्यारी) तेरे गरम (क्रुद्ध) वचन मेरे प्रेम के रस को (प्रेमानंद के स्वाद को) नष्ट नहीं कर सकते। (यह मेरा प्रेम-

---

१—सुघर = सुघड़ (= सुगढ़), अच्छा गढ़ा हुआ या बना हुआ।
२—सगुन = गुन (= गुण या डोरा, बत्ती) सहित।

रस) चीर (दूध) की तरह चण चण (तेरे गरम वचनों से) औटे जाने से अधिक स्वादिष्ठ होता है।

अलङ्कारः—पूर्णोपमा

करतु जातु जेती कटनि बढ़ि रस[१]-सरिता सोतु।
आलवाल[२] उर प्रेम तरु तितौ तितौ दृढ़ होतु ॥१०३॥

अर्थः—रस-रूपी नदी की धारा बढ़ कर जितना कटाव करती जाती है हृदय-रूपी थाले में (लगा हुआ) प्रेम का वृक्ष उतना ही उतना (और) दृढ़ होता है [स्वाभाविक नदियों की धारा के कटाव से तट पर के वृक्ष ढहने लगते हैं। किन्तु इस नदी की धारा बढ़कर जितना ही हृदय में घाव करती है अर्थात् देखने वा मिलने इत्यादि की लालसा बढ़कर जितना ही दुख देती है उतना ही प्रेम दृढ़ होता जाता है]

अलङ्कारः—रूपक।

सरस सुमिल[३] चित तुरँग की करि करि अमित उठान।
गोइ[४] निबाहें जीतियें खेलि प्रेम चौगान[५] ॥१०४॥

१—रस = प्रीति, शृंगाररस, देखने वा मिलने इत्यादि की लालसा।

२—आलबाल = थाला।

३—सुमिल = प्रेमी अथवा गोल में मिलकर चलनेवाला।

४—गोइ = छिपाकर अथवा गेंद।

५—चौगानः—अँगरेज़ी खेल पोलो (Polo) के सदृश एक खेल जो घोड़ों पर चढ़ के खेला जाता है। प्राचीन समय में भारत के राजा लोग बहुधा खेला करते थे। रामचंद्रिका में केशवदास ने इस खेल का बहुत अच्छा वर्णन दिया है। अकबर बादशाह भी इस खेल को बहुत खेलता था।

अर्थः—प्रेम-रूपी चौगान खेल में सरस (रसयुक्त, प्रेमी) सुमिल हृदय-रूपी (सरस = पुष्ट, सधा हुआ) घोड़े की अनंत उठानें (उमंगें, कावे, धावे) कर कर के छिपा कर निबाहने से (अथवा) गेंद को निर्दिष्ट सीमा तक पहुँचाने से जीत होती है। [प्रेम को गुप्त रीति से हृदय की उमंगों-द्वारा अंत तक निर्वाह करने से सफलता होती है।]

अलङ्कारः—रूपक, श्लेष।

गिरि तैं ऊँचे रसिक[1] मन बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरनु कौं प्रेम पयोधि[2] पगारु[3] ॥१०५॥

अर्थः—वही प्रेम-समुद्र जिसमें पर्वत से भी ऊँचे रसिकों के मन हज़ारों डूब गये पशुवत् (अज्ञान, पशुवृत्तिधारी, अरसिक) मनुष्यों को पगारु (मात्र) है [रसिक जन प्रेमसिंधु में पड़ कर फिर निकल नहीं सकते किंतु साधारण अज्ञानी लोग प्रेम की महिमा समझ ही नहीं सकते। दुस्तर सागर को ये लोग गोपद ही समझते हैं।]

अलङ्कारः—रूपक, अनुप्रास

क्यौं बसियै क्यौं निबहियै नीति* नेहपुर नाँहि।
लगालगी लोइन करैं नाहक मन बँधि जाँहि ॥१०६॥

१—रसिक = जो रस का स्वाद समझें, प्रेमी, भगवत् भजन में लीन इत्यादि।

२—पयोधि = पय अर्थात् जल धारण करनेवाला, समुद्र (वा मेघ)

३—पगारु = पंकयुक्त क्षुद्र जलाशय (पंकागार से); पैर से चलकर पार करने योग्य पानी वा नदी।

*"उरझत दृग बँधि जात मन कहौ कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइकैं देखी बड़ी अनीति"॥ रतनहज़ार।

अर्थः—प्रेमनगर में कैसे बसा जाय (और) कैसे निबाह हो (क्योंकि) वहाँ नीति नहीं है। (अर्थात् वहाँ का शासन अनीति-पूर्ण है। देखिए) लगा लगी (तो) आँखें करें (और) निरपराध बँध जाते हैं मन (आँखों-द्वारा देखादेखी होती है और हृदय अनुरक्त हो जाता है। मानो लड़नेवाले, लगालगी करनेवाले अपराधी तो नेत्र ठहरे और बँध कर दंड पानेवाले बेचारे निर्दोष मन हुए) [यहीं तक नहीं—अपराध नेत्र करें, बँधें मन और बीते शरीर पर। इससे बढ़कर अनीति क्या होगी? कैसी विलक्षण रीति है!

"हौं हिय रहति छई छई नई जुगुति जग जोय,
आँखिन आँखि लगे खरी देह दूबरी होय।"]

अलङ्कारः—असंगति (प्रथम), लगालगी और बँधिजाँहि श्लिष्ट हैं।

हरि छवि जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत, ढरत, बूड़त तरत रहत घरी[1] लौं नैन ॥१०७॥

अर्थः—(उस नायिका के अथवा मेरे) नेत्र जब से श्रीकृष्ण के छवि-रूपी जल में पड़े, तब से क्षण-मात्र भी (उससे) अलग नहीं होते; घरी (वा रहँट घरी) की तरह भरते, ढरते, बूड़ते, उतराते रहते हैं [कभी तो नेत्र पानी से भर जाते हैं मानो घरी जल में डूबी है; और कभी पानी बहाने लगते हैं मानो घरी पानी निकलने से तैर रही है।]

१—घरी = समय-प्रदर्शक जलयन्त्र की कटोरी। वह सदा नांद के जल
[illegible]हाँ में रक्खी रहती है।

अलङ्कारः—समुच्चयोपमा, अनुप्रास

लई सौंह सी सुनन की तजि मुरली धुनि आन ।
किए रहति नित राति दिनु कानन लागे कान ॥१०८॥

अर्थः—(वह नायिका कृष्ण की बाँसुरी सुनकर ऐसी अनुरक्त होगई है कि) मुरली की ध्वनि छोड़कर अन्य ध्वनि (और कोई बात, सखियों की हँसी-दिल्लगी अथवा शिक्षा) सुनने की शपथ सी (खा) ली है। (और) रात दिन हमेशा वन की ओर (वृन्दावन जिधर से मुरली-ध्वनि आती है) कान लगाये रहती है।

अलङ्कारः—गम्योत्प्रेक्षा (वन की ओर कान लगाये है मानो अन्य ध्वनि सुनने की सौंह सी कर ली हो। मानों गुप्त)। अनुप्रास

उत तें इत इत तें उतहिं छिनक न कहुँ ठहराति ।
जक[1] न परति चकरी[2] भई फिरि आवति फिरि जाति ॥१०९॥

अर्थः—(अनुरक्त नायिका की ऐसी दशा हो गई है कि वह) इधर से उधर, उधर से इधर (फिरती है और) क्षण-मात्र भी कहीं ठहरती नहीं। (उसे) चैन (ही) नहीं पड़ती, चकरी की भाँति फिरि फिरि आती जाती है।

अलङ्कारः—रूपक

ह्याँ तें ह्वाँ ह्वाँ तें इहाँ नेकौ धरति न धीर ।
निसि दिन डाढ़ी[3] सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर ॥११०॥

१—जक = कल, चैन, दे० दो० सं० ०४

२—चकरी, जिसमें आटा इत्यादि पीसते हैं। वह बराबर चक्कर ही लगाया करती है।

३—डाढ़ी, = जलाई हुई, दाही—अवध में डाढ़ा शब्द अग्नि के अर्थ में प्रयोग होता है। पूरब में भी इस शब्द का प्रयोग है। पेट में डाढ़ा

अर्थः—(अनुरक्त नायिका प्रेम की) बढ़ी हुई गाढ़ी पीड़ा से डाढ़ी सी यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ, रात दिन घूमती है तनिक भी धीरज नहीं धारण करती। [फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि फ़ैज़ी ने लिखा है कि प्रेम फ़ैज़ी से संतोष, बुद्धि और चेतनता ले गया। "عشق صبر و خرد و هوش ز فیضي بر بود"

अलङ्कारः—पूर्णोपमा, अनुप्रास।

पिय कैं ध्यान गही गहो रही वही* ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥ १११॥

अर्थः—(अनुरक्त नायिका) प्रियतम के ध्यान से ग्रस्त होकर (उसमें निमग्न होकर) वही (नायक ही) हो रही है। (यह) रिझवारि (जो रीझने की योग्यता रखती है) अपने आप ही दर्पण (में अपना मनोहर रूप) देखकर रीझती (मोहित वा प्रसन्न होती है) है। [नायिका का नायक सदृश हो जाना तथा अपने ही को प्रतिबिंबित देखकर रीझना अन्य स्थान पर भी वर्णित है।]

फूँकना, = पेट में अग्नि फूँकना, बेचैनी होना, जिसके कारण आदमी धीर से नहीं रह सकता; डाढ़ना क्रिया रूप में पूरब में प्रयोग होता है। 'व्यर्थ काहे डाढ़ते हो' = क्यों जलाते हो, दुख देते हो वा बेचैन करते हो।

यदि दाढ़ी पाठ रखें तो ढाढ़ी एक जाति विशेष को कहते हैं जो इधर-उधर घूमा करती है। पहला पाठ और अर्थ अधिक अच्छा मालूम होता है।

*प्रसिद्ध है कि भृङ्गीग्रस्त कीट भी भृंगी ही हो जाता है।

"कान्हमयी वृषभानुसुता भई" देव

अलङ्कारः—सामान्य (एक रूप हो जाना)

गुड़ी उड़ी लखि लाल की अँगना[1] अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवत छबीली छाँह ॥११२॥

अर्थः—(प्रेमाधिक्य देखिए, वह) छबीली अँगना (सुन्दरी नायिका) प्रियतम का पतंग उड़ते अँगने में देखकर (पतङ्ग की छाया पड़ते देखकर) पागल सी परछाहीं छूती हुई दौड़ती फिरती है (प्रियतम के पतङ्ग की छाया भी ऐसी प्यारी है अथवा इतना अनुराग उत्पन्न करा सकती है)।

अलङ्कारः—यमक, पूर्णोपमा, अनुप्रास।

छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥११३॥

अर्थः—(अपने प्राण) पति को नैहर (मैके) के घर में देख कर (नायिका की ऐसी दशा हो रही है कि) न तो (नैहर में रहने के कारण) लज्जा (ही) छुटती है (और) न (प्रेमाधिक्य के कारण प्रियतम को देखने का) लालच ही—(अतः इसी दुविधा में पड़े हुए उसके) नेत्र (एक ओर) संकोच (दूसरी ओर) स्नेह से पूर्ण अत्यंत छटपटा रहे हैं (कि क्या करें देखें अथवा दृष्टि नीची करलें)।

अलंकारः—पर्याय और अनुप्रास।

इन दुखिया अँखियानु* कौं सुखु सिरज्योई नाँहि।
देखैं बनै न देखतै अनदेखैं अकुलाँहि ॥११४॥

१—अँगना = स्त्री, सुन्दर अंग वा शरीरवाली स्त्री (न, प्रशंसार्थ)

*"वा जगबंचक देखे बिना दुखिया अँखियान न रञ्चक चैन री"
देव

अर्थः—(हे सखी,) इन दुखिया (पीड़ित, बेचारी) आँखों के लिए सुख बनाया ही नहीं गया है (देखो-प्रियतम के सामने होने पर) देखने पर (इनसे) देखते नहीं बनता (और उनसे अलग रहने पर) न देखने पर व्याकुल होती हैं (अतः दोनों दशाओं में लज्जा अथवा स्नेह के मारे ये नेत्र आनन्द लाभ नहीं कर सकते) [प्रेम का प्रभाव आँखों पर सुनिए—

"नेह न नैननि को कछू उपजी बड़ी बलाय,
नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय।"

लज्जावश होकर कुछ न बोलने अथवा न देखने का बिहारी ने अच्छा वर्णन किया है—कुछ न कहने का हाल सुनिए—

"दोऊ चाहभरे कछू चाहत कह्यौ कहैं न।
नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहर निकसत बैन"॥

पाठकों को याद होगा कि तुलसीदास ने नेत्रों में छाये हुए जल की उपमा सूम के धन से कैसी अच्छी दी है—

"लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपण कर सोना"।

अलंकारः—काव्यलिंग (सुख नहीं है इसका समर्थन उत्तरार्द्ध से है)।

दुचितैँ चित हलति न चलति हँसति न झुकति बिचारि।
लखन[1] चित्र पिउ लखि चितै रही चित्र लौं नारि॥११५॥

*"देखि न परति देव देखिबे की परी बानि,
देखि देखि दूनी दिखसाध उपजति है"
"भरभराय देखे बिना देखें पल न अघायँ!" रतनहजारा

१—पा० लिखन

अर्थः—(नायिका) प्राणपति को (किसी स्त्री का) चित्र देखते वा (लिखत) लिखते (बनाते) देखकर दुविधा में पड़ी हुई (बड़े ध्यान से, टकटकी लगाये) चित्र सरीखे (होकर) देख रही है—न चलती है न हिलती है (ताकि उनको उसका आना मालूम न हो) न हँसती है (क्योंकि उसे निश्चय नहीं है कि वह चित्र उसी का है—जिससे पति के इस प्रेम पर आनंदित होती) न क्रुद्ध होती है (क्योंकि यह भी निश्चय नहीं है कि वह चित्र किसी अन्य ही स्त्री का है)

अलङ्कारः—पूर्णोपमा, वस्तूत्प्रेक्षा (नारि चित्र प्रतीत होती है—उक्तविषय, नारि)

कहत सबै कवि कमल से मो मत नैन पखानु[१]।
नतरु क कत इन बिय[२] लगत उपजतु बिरह कृसानु ॥११६॥

अर्थः—(हे सखी, सखा, वा मन ! नेत्र को) सब कवि कहते हैं कि कमल सदृश होते हैं (किन्तु) मेरी समझ में तो आँखें पत्थर हैं नहीं तो (यदि यह पत्थर नहीं हैं तो फिर) इनमें दूसरे (नेत्रों) के लगने से विरह-रूपी-अग्नि क्यों उत्पन्न होती है (अतएव ये सुखदाई कोमल कमल नहीं हैं वरन् दुखदाई कठोर पाषाण हैं जिनके टकराने से विरहाग्नि निकलती है)

१—पखानु = पाषाण, पत्थर, "ईंट पखान" बहुधा सुनने में आता है।

२—बिय = दो, दूसरा (द्वि), अंगरेज़ी में भी bi (बाइ) दो के अर्थ में प्रयुक्त है।

अलङ्कारः—अपह्नुति (हेतु उत्तरार्द्ध में दिया है)

तच्यौ आँच अब विरह की रह्यौ प्रेम रस भीजि।
नैननु कैं मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि ॥११७॥

अर्थः—(विरहिणी नायिका का) हृदय जो पहले प्रेम के रस से भीगा रहा अब (वह) विरह की आँच से तप कर या संतप्त हो के पसीज पसीज कर आँखों की राह से (उसमें से) जल बहता है [भीगी हुई वस्तु को तपाकर उसमें से अर्क निकाला जाता है—इसी प्रकार विरह से तपाये हुए हृदय से नेत्रों की नली द्वारा अर्क निकलता है]

अलङ्कारः—समासोक्ति

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा[1] तीरु।
अँसुवनु करति तरौंस[2] कौ खिनकु खरौंहौं[3] नीरु ॥११८॥

अर्थः—(विरहाग्नि से संतप्त) राधिका यमुना का तट देखती हुई कृष्ण की याद करके (अपने खारे, गर्म) आँसुओं से (नदी की) निचली तह का या किनारे का पानी थोड़ी देर के लिए खारा या खौलता सा बना देती हैं।

१—तरनिजा = सूर्य से उत्पन्न कन्या = यमुना।

२—तरौंस, तर = नीचा, तरौंस = निचला भाग, नीचे की तह, किनारा, तट।

३—खरौंहौं = खारा, यदि खौरौंहौं रक्खा जाय तो अच्छा होगा और अर्थ होगा खौलता सा।

अलङ्कारः—उल्लास (आँसुओं की गर्मी से पानी का गर्म हो जाना), अत्युक्ति, स्मरण।

लाल तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै[1] बरसैँ नीर हूँ झर[2] हूँ मिटै न झार[3] ॥११९॥

अर्थः—हे प्रियतम तुम्हारे वियोग की अग्नि अनुपम (अद्भुत और) अपार (बहुत ही अधिक) है—(इसकी यह दशा है कि साधारण अग्नि के असदृश) जल बरसने से भी (सदा रोते रहने से भी इसकी) ज्वाला बढ़ती जाती है (और ग्रीष्म के) ताप से भी नहीं मिटती। [पानी बरसने से ज्वाला कम होती है। किन्तु विरहाग्नि बढ़ती ही जाती है। तपाने वा सेंकने से जले हुए अंग पर ज्वाला का प्रभाव कम हो जाता है अर्थात् जलन घट जाती है किन्तु ग्रीष्म से सेंके जाने पर भी (यदि वसंत अथवा अगहन इत्यादि होता तो न जाने क्या दशा होती) विरह-जलन नहीं मिटती]

अलङ्कारः--विभावना (तीसरी—प्रतिबंध वर्षा तथा ताप होते हुए भी ज्वाला बढ़ना), विशेषोक्ति, अनुप्रास

बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि[4] कै बार।
अरी आउ भजि भीतरी बरसत आजु अँगार ॥१२०॥

१—सरसै = बढ़ती है।

२—झर = ताप, इस शब्द का स्वयं बिहारी ने तीन अर्थों में प्रयोग किया है (क) पावक की लपट—"पावक झर सी झमकि कै" (ख) मेंह की लड़ी "झर बरसौंहैं मेह—" दोनों "पावक झर तैं मेह झर दाहक दुसह बिसेखि" (ग) बिरह का ताप "नैंक न झुरसी बिरह झर"

३—झार = ज्वाला, जलन।

४--डह कर = पीड़ित होकर, डाहना बोल चाल में प्रयुक्त भी है।
पा० बहि

अर्थः—(उस) बिछोह से जली हुई (नायिका) ने जुगनुओं को (आग की चिनगारी सदृश उड़ते हुए देखकर) पीड़ित हो के कितनी बार नहीं कहा कि अरे भीतर आओ आज (बाहर वर्षा में) अँगार बरस रहा है। (यह वर्षाकाल के विरह का वर्णन है। बरसात में विरहाग्नि इतनी प्रज्वलित है कि नायिका को जहाँ तहाँ अँगार ही का भ्रम हो रहा है।)

अलङ्कारः—भ्रम

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति ॥१२१॥

अर्थः—(विरह से जलती हुई नायिका से ऐसी आग निकल रही है कि) जाड़े की रात्रि में भी भीगे कपड़े की आड़ देकर (और उस पर भी) साहस कर करके सब सखियाँ स्नेहवश उसके पास जाती हैं [ऐसी दशा में आस पास लोगों का रहना असंभवसा हो गया होगा—कवि ने कहा भी है—

"सीरे जतनिन सिसिर ऋतु सहि विरहिनि तनु ताप।
बसिवे को ग्रीषम दिननु परो परोसिन पाप॥"]

अलङ्कारः—अत्युक्ति

सुनत पथिक मुँह माह[1] निसि चलति लुवै उहि गाम।
बिनु बूझैं बिनुहीं कहैं जियति बिचारी बाम[2] ॥१२२॥

अर्थः—(विरहिणी नायिका के पति ने अपने गाँव की ओर से आते हुए) पथिक के मुँह से (यह) सुनकर (कि) उस गाँव

१—माह = माघ का महीना—मध्य जाड़े का महीना।
२—बाम = बामा = पत्नी, नायिका।

में मध्य जाड़े की रात्रि में लुवें चलती हैं विना (अपनी स्त्री का समाचार पूछे ही (अथवा विना उस पथिक के कहे ही विचार लिया (अनुमान कर लिया) कि (अभी) नायिका जी रही है (क्योंकि विरह से जलती उसी स्त्री ने सारा वायु-मंडल संतप्त कर दिया होगा जिससे माघ में भी लू चलती है)

अलङ्कारः—अनुमान।

औंधाई सीसी सुलखि विरह बरनि विललात।
बिच हीं सूखि गुलाब* गौ छीटौ छुई न गात ॥१२३॥

अर्थः—(उस नायिका को) विरह की जलन से विलपती देख कर) अग्नि शांत करने के लिए हमने गुलाब की भरी) सीसी (उसके ऊपर एक ही साथ) औंधाई (परन्तु) वह (सारा) गुलाब (नायिका के विरह की गर्मी से) बीच ही में सूख गया (और एक) छींटा भी (उसके) शरीर से न छुआ (इतनी आग उसके शरीर से निकल रही थी कि पूरी की पूरी सीसी भाप बन के उड़ गई) [विरह की अग्नि का प्रभाव बिहारी ने बहुत ही अच्छा दर्शाया है।

इतनी विरहात्युक्ति बहुत ही प्रशंसनीय है—एक और दोहे में लिखते हैं—

"मैं लै दयो लयो सुकर छुवत छनकि[1] गो नीर।
लाल तिहारो अरगजा[2] उर ह्वै लग्यो अबीर॥"]

---

* "विरह आंच नहिं सहि सकी सखी भई बेताब,
चनकि गई सीसी गयो छिरकत छनकि गुलाब" श्रृंगार सतसई

१—छनकि—छन छन करके (जैसे जलते हुए तवे पर पानी का छींटा दिया जाय), भाप बन के उड़ कर।

२—अरगजा—चंदन, कपूर, कस्तूरी इत्यादि का ठंडा लेप।

अलङ्कारः—अत्युक्ति ।

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन् के ईस ।
बिरह ज्वाल जरिबो लखैं मरिबौ भई असीस* ॥१२४॥

अर्थः—हे कृष्ण प्राणेश (प्राणों के स्वामी ! उसके प्राण की रक्षा कीजिए, मैं) उसकी दशा क्या कहूँ (उसको) विरह की ज्वाला से जलती देखकर (उसका) मरना आशीर्वाद हो गया है। (यदि किसी से कहा जाय कि तू मर जा तो यह बड़ा भारी शाप होगा किन्तु वियोग में जलती नायिका से कहना कि तू मर जा अर्थात् ईश्वर से मनाना कि वह मर जाय उसके लिए आशीर्वाद है। तात्पर्य यह कि सखियाँ समझती हैं कि वह मृत्यु कष्ट से भी अधिक कष्ट इस समय सह रही है—पाठकों को स्मरण रहे कि विहारी इस विरहिणी को मरने नहीं देंगे—उन्होंने विरह

---

* इस पर मिश्रबंधुओं का कहना है—"मरणावस्था के कथन में रसाभास समझ कर बहुतेरे कवि मूर्च्छा ही का वर्णन कर देते हैं... ...परन्तु बिहारी ने मरण का भी वर्णन कर दिया"—यह पढ़ते हुए भी सादर निवेदन किया जा सकता है कि "मरना आशीर्वाद होगया है" से मरना ही नहीं साबित हो गया। आशीर्वाद ऐसे वचन को कहते हैं जो दुख निवारण करे। यहाँ पर कवि का यह तात्पर्य ज्ञात होता है कि नायिका की इस दशा में 'मरना' शब्द दुख निवारण है अर्थात् यदि कोई इस शब्द का प्रयोग करे अथवा ईश्वर से इसकी प्रार्थना करे तो उस नायिका के लिए यह आशीर्वाद है—क्योंकि यदि वह मर जायगी तो विरह-दुख से बच जायगी—मरना एक आशीर्वचन होगया न कि एक शुभ-कार्य समाप्त। पाठक स्वयं समझें कि जो बिहारी मृत्यु को भी भयभीत कराना चाहते हैं (आगे का दोहा) वह भला नायिका को मरने कैसे देंगे।

की ज्वाला इतनी बढ़ा दी है कि मृत्यु भी पास आने से डर जायगी। आगे का दोहा देखिए—]

अलंकारः- लेश,

नित संसौ[1] हंसौ* बचतु मनौ[2] सु इहिं अनुमानु।
बिरह-अगिनि लपटनु सकतु झपटि न मीचु[†] सचानु॥१२५॥

अर्थः—रोज़ (उस विरहिणी का) श्वासा-रूपी हंस (मरने से) बच जाता है—सो यह अनुमान मानों (अर्थात् हे नायक इसका यह कारण समझ लो कि) विरहानल की लपटों (की करालता के कारण) से मृत्युरूपी संचान (बाज़ की तरह का पक्षी विशेष) झपट नहीं सकता। और नायिका का प्राण-हंस बच जाता है।

१—संसौ=श्वासा का विकृत रूप संसौ का अर्थ संदेह का भी हो सकता है (संशय)—तब अर्थ यों होगा:—नित्य संदेह रहता है कि आज बचेगी कि नहीं......

* हंस से प्राण की उपमा देना हिन्दी कवियों की साधारण बात है—भक्त वा योगी प्राण को हंस भी कहते हैं (जो शरीर-रूपी पिंजड़े में बंद है) "कहत कबीर बसा है हंसा आवागमन मिटावै" कबीर

२—मनौ=मानो, मान लो, समझो—'मनहुँ, पाठ रहने पर 'मन में', ऐसा अर्थ हो सकता है—अर्थात् 'उसे नित्य बचते देखकर मन में यह अनुमान है—'

† "चंदन कीच चढ़ाय हूँ बीच परे नहिं रांच,
मीच नगीच न आसकै लहि विरहानल आंच—" श्रृंगारसतसई।

अलंकारः—रूपक 'परंपरित' श्लेष।

विरह सुखाई देह नेहु कियौ अति डहडहौ।
जैसैं बरसैं मेह जरै जवासौ[1] जौ[2] जमै ॥१२६॥

अर्थः—विरह ने (उस विरहिणी नायिका का) शरीर सुखा डाला, (परन्तु उसका) स्नेह अत्यंत हरा भरा (डहडहा) कर दिया जैसे वर्षा होने से जवासा जल जाता है (परंतु) जौ जमता है।

अलंकारः—प्रतिवस्तूपमा। अनुप्रास

देखत बुरै[3] कपूर ज्यौं उपै[4] जाइ जिन लाल।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ॥१२७॥

१—जवासा—घास विशेष जो वर्षा होने से जल जाती है—तुलसीदास ने लिखा भी है कि वर्षाकाल में "अर्क जवास पात बिनु भयऊ"।

२—जौ, इस शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं (१) जड़, (जवासा ऊपर से तो सूख जाता है परंतु उसकी जड़ जमती है) किंतु यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि जड़ और पत्ते एक ही पौधे के हुए, शरीर और स्नेह दो भिन्न चीज़ें हैं (२) जवा, जिसका आटा होता है। किंतु जवा वर्षाकाल के बाद होता है—और जवासा आषाढ़ ही के पानी में सूख जाता है। (३) जवाकुसुम, जपाकुसुम, गुड़हर, यह आषाढ़ ही में अधिक फूलता हैं और नये पौधे भी जमते हैं—अतः यही अर्थ सबसे अधिक अच्छा जान पड़ता है।

३—बुरै = बुरा (उरा, ओरा) कर, जैसे बोलते हैं कुल रुपया ओरा गया" अर्थात् धीरे धीरे एक एक करके सब समाप्त होगया। इसी प्रकार नायिका का शरीर धीरे धीरे ओरा रहा है कुछ दिनों में समाप्त हो जायगा। पा० चुर

४—उपजाना = उड़ जाना, लुप्त हो जाना।

अर्थः—हे लाल ! सुन्दर बाला (तुम्हारे वियोग से) क्षण क्षण में बड़ी दुबली (छीन) पड़ती जाती है (अतः संदेह है वा भय है कि) कहीं देखते देखते कपूर की तरह ओरा कर (अर्थात् थोड़ा थोड़ा करके) उड़ न जाय (अर्थात् ग़ायब न हो जाय, क्षीण होते होते कहीं शरीर ही न त्याग दे)

अलंकारः—पूर्णोपमा, अनुप्रास।

नैंक न जानी परति यौं पर्यौ बिरह तनु छामु ।
उठति दियैं लौं नाँदि[१] हरि लियैं तिहारौ नामु ॥१२८॥

अर्थः—हे कृष्ण ! (नायिका का) शरीर ऐसा दुबला (क्षाम, क्षीण) पड़ गया है कि (वह) तनिक भी नहीं जान पड़ती (कि बिस्तर पर है, उसका होना केवल इसी से जाना जाता है कि) तुम्हारा नाम लेने पर (वह) दिया की तरह नाँद उठती है (चैतन्य वा प्रकाशित हो जाती है) [बिरह-दूबरे गात का वर्णन बिहारी ने ख़ूब किया है। कहते हैं—

"दुसह बिरह दारुन दसा रह्यो न और उपाय।
जात जात जिय राखिए पिय की बात सुनाय ॥"

फिर लिखते हैं

"करके मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनि सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय ॥"

बिरह का हाथ कितना कठोर है—जब सदा समीपिनि सखियाँ भी नहीं पहचान सकतीं तो भला मृत्यु जिसको 'यमराज के यहाँ

१—नाँद उठना, दिया बुझते समय के लाफ (last flicker) उठने को नाँद उठना कहते हैं। अंतिम बार झट से प्रकाश अधिक हो जाता है फिर दिया बुझ जाता है। प्रियतम का नाम लेने पर नायिका की यही दशा होती है।

से आकर उनके बतलाये हुए हुलिया के अनुसार ढूँढ़ना है कहाँ पहचान सकती है। अतः अधिक क्षीण होने के कारण वह नायिका मर नहीं सकती। जैसे दोहा सं० ११५ में विरह की ज्वाला ने उसकी रक्षा की उसी प्रकार नीचे के दोहा में क्षीणता उसको बचा लेगी। मृत्यु ढूँढ़ती फिरे]

अलङ्कारः—पूर्णोपमा।

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा[1] चखनु चाहै लहै न मीचु[2] ॥१२९॥

अर्थः—(हे कृष्ण !) विरह ने (उस नायिका को) (इतनी दुबली) बना दिया है कि मृत्यु (उसको) चाहती है (उसको ले जाने के लिए आई है परन्तु क्या करे कैसे ले जाय) आँखों में चश्मा लगाने पर भी तो (उसको) नहीं पाती (ऐसा तो उसका शरीर होगया है) तिस पर भी नीच विरह (उसका) गैल (रास्ता, पैंडा, पीछा) नहीं छोड़ता (तुम्हीं तो इसके कारण हो—विरह से पीछा छोड़ा दो)।

अलङ्कारः—अत्युक्ति

मरिबे कौ साहसु ककै बढ़ैं विरह की पीर।
दौरति है समुहौ ससी सरसिज सुरभि[3] समीर* ॥१३०॥

१—चसमा = चश्मा (फ़ारसी, चश्म = आंख) = उपनेत्र।

२—मीच = मृत्यु, "नीच मीच सम लखै न मोही" तुलसीदास।

३—सुरभि = सुगन्धित।

*यह और आगे के तीन चार दोहे निम्न-लिखित चौपाइयों के साथ पढ़ने चाहिएँ।

"राम वियोग कहा सुनु सीता, मो कह सकल भयउ विपरीता।
नूतन किसलय मनहुँ कृशानू, काल निशा सम निशि शशि भानू ।।

अर्थः—वियोग का दर्द वढ़ने पर मरने (प्राण त्याग देने) का साहस कर करके (विरहिणी नायिका) चंद्रमा, कमल, (और) सुगंधित वायु के सम्मुख हो दौड़ती है। [विरह में शीतल और सुखदायिनी वस्तु जलानेवाली और दुखदायिनी हो जाती हैं। यह नायिका इसी प्रकार चन्द्रमा इत्यादि से जलाई जा रही है और उनको अग्नि समझ कर पूर्ण रीति से जल जाने (मर जाने) की अभिलाषा से उन्ही के सामने दौड़ती है। पीड़ा में दौड़ना और बेचैन होना साधारण है]

अलङ्कारः—विचित्र (जलने के लिए ससि इत्यादि शीतल वस्तु के सामने जाना), अनुप्रास।

हौं हीं वौरी विरह वस कै वौरो सबु गाउँ।

कहा* जानिए कहत हैं ससिहिं† सीतकर² नाउँ ॥१३१॥

अर्थः—(पतिवियोग में चन्द्रकिरणों से संतप्त नायिका कह रही है कि) मैं हीं विरह में पड़ने से पागल हूँ अथवा सब गाँव ही पागल है। (इस जलानेवाले) चन्द्रमा को क्या जान कर (सब लोग) सीतकर नाम का कहते हैं (या तो यही लोग पागल

कुवलय विपिन कुन्त वन सरिसा, वारिद तप्त तेल जनु बरिसा।
जेहि तरु रहौं करत सोइ पीरा, उरग श्वास सम त्रिविध समीरा॥"
तुलसीदास

*"जाहि जोहि आरत भई मरी परी दुखफन्द।
ताहि सुधाकर क्यों कहैं दारद सारद चन्द॥"—शृंगारसप्तशती

†सीताजी ने शशि को कितना आग्नेय समझा है—
"देखियत प्रकट गगन अंगारा, अवनि न आवत एकौ तारा।
पावक मय शशि स्रवत न आगी, मानहुँ मोहिं जानि हतभागी॥"

२—सीतकर = जिसका कर (हाथ, किरण) शीतल हो, चन्द्रमा।

होकर गरम को ठंडा कह रहे हैं या मुझी को पागल होने से ठण्डा गरम सा जान पड़ता है) [इस दोहे में शब्द-माधुर्य के अतिरिक्त एक बड़ा गुण यह है कि नायिका सोचती हुई सी जान पड़ती है; वह विचार-मग्न है। साधारण श्रेणी के कवि नायिका की इस दशा का या तो वर्णन ही कर देंगे या नायिका से इतनी बातें कहला देंगे जो उच्च कविता के उपयुक्त न होंगी।]

अलङ्कारः—सन्देह ।

भौ यह ऐसोई समौ जहाँ सुखद दुख देत ।
चैत चाँद की चाँदनी डारति किए अचेत ॥१३२॥

अर्थ—(प्रियतम के वियोग के कारण) यह समय ऐसा ही होगया है (कि) जहाँ (या जिसमें) सुख देनेवाली (वस्तु) दुख देती है (रामचन्द्र के शब्दों में 'मो कहँ सकल भयउ विपरीता')—चैत (मास जब वसंत का ज़माना रहता है) में चन्द्रमा की (शीतल सुखदायिनी) चन्द्रिका (मुझे) अचेत किये डालती है (अति दुख देती है) [सुखद वस्तु भी अब दुख दे रही है। इस पर फिर लिखते हैं—

"औरे भाँति भयेऽब ये चौसर चंदन चंद।
पति बिन* अति पारत विपति मारत मारुत मंद॥"
तथा—"जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माह की राति।
तिहि उसीर की रावटी खरी आवटी जाति"]॥

---

*कंत बिन बासर बसंत लागे अन्तक से,
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान करे सार से चन्दन घनसार लागे,
खेद लागे खरे मृगमेद लागे महकन॥

अलङ्कारः—पाँचवीं विभावना, (अचेत होना कार्य, विरुद्ध कारण चाँदनी), अर्थान्तरन्यास।

विकसित नवमल्ली[1] कुसुम निकसित परिमल[2] पाइ।
परसि पजारति[3] विरहि हिय बरसि रहे की वाइ॥१३३॥

अर्थः—बरसते (समय) की हवा (अर्थात् वायु जो वर्षा होते समय बहती है) खिले हुए नवमल्लिका के फूलों से निकलती हुई सुगन्ध पाकर विरही (वियोग-रूपी अग्नि से जलते हुए) हृदय को परस कर (स्पर्श करके) जलाती है (अर्थात् वर्षाकाल की मन्द मन्द सुगंधित वायु विरहाग्नि को बढ़ा देती है)।

अलङ्कारः—विभावना (पंचम, विरुद्ध कारण वर्षा की वायु से जलना)।

याकैं उर औरैं कछू लगी विरह की लाइ[4]।
पजरै[5] नीर गुलाब कैं पिय की बात बुझाइ॥१३४॥

फांसी से फुलेल लागे गांसी से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे चोवा लागे चहकन।
अङ्ग अङ्ग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन अबीर लागे दहकन॥ देव॥

१—नवमल्ली, नवमल्लिका = चमेली।

२—परिमल = सुगंध, फूलों से निकली हुई मनोहर गंध।

३—पजारति = प्रजारति, (प्र = विशेष रूप से, जारति = जराती या जलाती है)

४—लाइ = लवर, ज्वाला, आग।

५—पजरै = प्रजरै, जलती है—दे० दो० सं-१३३

अर्थः—(इस विरहिणी नायिका के) हृदय में वियोग की कुछ और ही (विलक्षण) आग लगी है (क्योंकि साधारण अग्नि के असदृश जो जल से बुझती और वायु से प्रज्वलित होती है यह आग) गुलाब के पानी से प्रज्वलित होती है और प्राणप्रिय की बात (१—चर्चा, बात-चीत, २—वायु, हवा) से बुझती है—[एक और दोहे में गुलाबजल इत्यादि से जलने का वर्णन किया है।

"अरी परे न करै हियो खरै जरै पर जार।
लावति घोरि गुलाब सों मिलै मलै घनसार॥"]

अलङ्कारः—भेदकातिशयोक्ति। विभावना (पाँचवीं, गुलाब से जलना, वायु से बुझना—विरुद्ध कारण से कार्य)

हितु[१] करि तुम पठयौ लगैं वा बिजना[२] की बाइ[३]।
टली तपति तन की तऊ चली पसीना न्हाइ॥१३५॥

अर्थः—(हे लाल)तुमने (जो पंखा) प्रेमपूर्वक (नायिका को हाँकने के लिए) भेजा था उस पंखे की हवा लगने से (उसके) शरीर का (वियोग-जनित) ताप (तो तुम्हारा प्रेमोपहार पाने से) मिट गया (परन्तु स्वेद सात्विक के कारण वह) पसीने से नहा चली [तन का ताप पसीना होने से मिटता है—पंखा झलने से पसीना सूखता है]

१—हितु = भलाई, मित्रता, प्रेम, दे० दो० सं-६१।

२—बिजना = व्यजन, पंखा।

३—बाइ = वायु, हवा।

अलङ्कारः—पंचम विभावना (विरुद्ध कारण पंखा झलने से पसीना होना)

कहे* जु वचन बियोगिनी विरह विकल विललाइ[1] ।
किए न को अँसुवा सहित सुवा ति† बोल सुनाइ ॥१३६॥

अर्थः—(हे सखी वा नायक देखो वह नायिका विरह से कितनी पीड़ित है—उसकी दशा इसी से समझलो कि उस) वियोगिनी ने विरह-व्याकुलता में जो (शब्द) विलला कर (वेसंभार होकर) कहे थे उन शब्दों को सुनाकर सुग्गे ने (जो संयोग-वश उन शब्दों को सुन लिया था) किसको रोता हुआ नहीं बना दिया [सुग्गा केवल शब्दों को दुहरा सकता है—अतः उन शब्दों ही में इतनी पीड़ा भरी थी कि सब श्रोता रो दिये ।]

अलङ्कारः—हेतु सहित अत्युक्ति, अनुप्रास, यमक

---

* कहे और किये के भूतकालिक क्रिया होने से नायिका के मर जाने का भी अनुमान किया गया है—और इसे करुण रस का दोहा मान लिया गया है—किन्तु वास्तव में यह जीवित नायिका की दूती का वचन नायक के प्रति जान पड़ता है—कहती है 'हे नायक ! जब मैं वहां थी अथवा जब उसने अपने संदेश कहे तो उसे सुनकर मैं और अन्य श्रोता अश्रुपूर्ण हो गये ।'

१—बिललाइ = बिलला कर, विललाना=विवश होकर विलाप करना।

† पा० सु ।

मरी डरी[१] कि टरी विथा कहा खरी[२] चलि चाहि[३] ।
रही कराहि कराहि अति अब मुह आहि न आहि[४] ॥१३७॥

अर्थः—(हे सखी तू) खड़ी क्या है चल के देख (तो कि वह वियोगिनी) मरी पड़ी है अथवा (उसकी) व्यथा दूर हो गई (क्योंकि वह) वहुत कराह कराह के रहती थी (आह भरा करती थी) अथवा रह गई (एकाएक चुप हो गई) (इस समय) अब मुख में आह नहीं है (उसके चुप रहने से यही अनुमान होता है कि या तो वह चल वसी या प्रियतम आ गये)

अलङ्कारः—अनुप्रास, संदेह, विप्सा, यमक ।

बिरह बिपति दिनु परत हीं तजे सुखनु सब अंग ।
रहि अबलौंऽब[५] दुखौ भए चलाचलै जिय संग ॥१३८॥

अर्थः—(हे सखी वा प्रियतम) विरह-दुख के दिन आते ही सुखों ने (तो) सब अंग छोड़ ही दिये (अर्थात् किसी इंद्रिय से

१—डरी = पड़ी है, डरी, डली, डाली, डाली हुई, पड़ी हुई, [र और ल एक दूसरे के स्थान में रख दिये जाते हैं जैसे राल = लार, पुआर = पुआल, कवर = कवल गारी = गाली]

२—खरी = खड़ी, (खरी शब्द बड़ी के अर्थ में भी विहारी ने प्रयोग किया है दे० दो० सं० १०२, १२७ जैसे खरी प्रीति = निखरी हुई, साफ़ स्वच्छ, निष्कपट, बड़ी प्रीति) [र और ड़ भी अदल बदल होते हैं जैसे पराहे = पड़ाहे, भारा = भाड़ा, नारी = नाड़ी ।]

३—चाहि = देख, दे० दो० सं० १६२ ।

४—आहि, एक आहि का अर्थ है आह, पीड़ा-जनित शब्द, दूसरे आहि का अर्थ है 'है' (जैसे 'अहै') अस्ति = है से निकला है ।

५—अबलौं + अब = अबलौंऽब, संस्कृत में संधि नियमों के अनुसार ।

मुझे सुखानुभव नहीं होता था) केवल दुख ही दुख था, परन्तु इस समय तो यह दशा है कि) दुख भी अब तक (अंगों के साथ) रह कर अब प्राण के साथ चलाचल ही हुए हैं (चलने को अब तैयार ही हैं—अतः हे प्राणपति तुम चाहो तो आकर प्राणों को रख लो) [विपत्ति इतनी पड़ी कि सुखों से तो सही ही नहीं गई किन्तु अब दुखों से भी नहीं सही जाती—और प्राण से भी नहीं सही जाती। अतः दोनों अब इन अंगों वा शरीर को छोड़ना ही चाहते हैं]

अलङ्कारः—अतिशयोक्ति।

*मरनु भलौ बरु बिरह तें यह निहचय[२] करि† जोइ[३]।
मरन मिटै दुखु एक कौ बिरह दुहूँ दुखु होइ ॥१३९॥

---

*इस दोहे का एक और भिन्न अर्थ किया गया है—नायिका के विरह से मर जाने के बाद नायक को धैर्यावलम्बन करने के लिए सखी वा सखा का वचन माना गया है—पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि उत्तरार्द्ध की युक्ति (argument) अतिपीड़ित परन्तु जीवित दशा में दी जाती है—इससे प्रेम का आधिक्य सूचित होता है—सचमुच मर जाने पर यह युक्ति कोई नहीं देता क्योंकि जितना ही नायिका का प्रेमाधिक्य और विरह-व्याकुलता नायक सुनेगा उतनाही उसे ऐसी प्रेमिका के मरने और उस समय पर अपने उपस्थित न होने का अति क्लेश होगा। धीरज ऐसे समझानेवालों को धोखा देकर भाग निकलेगा और संभव है कि नायक आत्महत्या कर दे—जब एक का दुख छूटा तो दोनों का क्यों न छूट जाय।

२—निहचय = निश्चय, श बहुधा ह हो जाया करता है जैसे निश्चल निहचल (दो० २०)। पा० विचार।

† पा० चित।

३—जोइ = जोय = देखो, दे० दो० सं० ४।

अर्थः—(हे सखी) यह निश्चय करके देख लो (समझ लो) कि विरह (का दुख सहने) से मरना ही (मृत्यु ही का दुख सहना) अच्छा है (क्योंकि) मर जाने से एक (अर्थात् मरनेवाले का दुख मिट जाता है (किन्तु) विरह में दोनों को दुख होता है।

अलङ्कारः—लेश, काव्यलिंग (मरना भला है, इसका समर्थन उत्तरार्द्ध से है)

कौड़ा[1] आँसू बूँद कसि* साँकर[2] बरुनी[3] सजल।
कीने बदन निमूँद[4] दृग मलिंग[5] डारे[6] रहत ॥१४०॥

१—कौड़ा = बड़ी कौड़ी, कपर्द।

* पा० करि।

२—सांकर = जंज़ीर, सिँकरी शब्द छोटी जंज़ीर वा आभूषण विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है।

३—बरुनी = बरवनी, नेत्र के ऊपर नीचे के बाल, (brow—हिन्दी और अंगरेज़ी शब्दों की समानता देखिए)—सजल रहने पर बाल एक दूसरे से मिले हुए जंज़ीर-सदृश दीख पड़ते हैं।

४—निमूँद, नि शब्द दो भिन्न अर्थों में आता है (१) विशेष रूप से जैसे निगूढ़ = अति गूढ़, निकुंज = विशेष कुंज (दे० दो० ३) (२) अभाव-सूचक जैसे निकाम = बिना काम वा इच्छा का, निछिद्र = छिद्रहीन निमूँद के दो अर्थ हो सकते हैं बंद और खुला और दोनों यहां उपयुक्त हो सकते हैं, किंतु पहला अच्छा होगा क्योंकि बरुनी सांकर कसे हैं। कसना से बंद ही रहना अधिक अनुमान होता है। फिर मलंग बहुधा मौन रहते हैं (कभी कभी हक़ हक़ भी रटा करते हैं) अतः नेत्र मुख बंद होना चाहिए। फिर ईश्वर (प्राणपति) का ध्यान बंद आंखों से अधिक हो सकता है, गो कि टकटकी लगाये भी अच्छा ध्यान हो सकता है।

५—मलिङ्ग एक प्रकार के फ़क़ीर मुसल्मानों में होते हैं जो कौड़ों की लड़ों और जंज़ीरों से शरीर कसे रहते हैं।

६—डारे = डाले = अपने शरीर को डाले हुए = पड़े हुए।

अर्थः—(वियोगिनी नायिका के) नेत्ररूपी मलंग आंसुओं की बूँद रूपी कौड़ों (और) अश्रुपूर्ण वरुणी रूपी जंज़ीर कसे (धारण किये) हुए मुख बंद किये पड़े रहते हैं (अर्थात् नायिका हर घड़ी रोती हुई आँख बंद किये प्रियतम के ध्यान में निमग्न रहती है)

अलकारः—रूपक।

ध्यान आनि ढिग प्राणपति रहति मुदित दिन राति।
पलकु कँपति पुलकति पलकु पलकु पसीजति जाति ॥१४१॥

अर्थः—(विरहिणी नायिका) प्रियतम को ध्यान में (अपने) पास लाकर रात-दिन प्रसन्नचित्त रहती है—कभी (पलक = एक पल में, पल-मात्र में, किसी पल में, कभी) काँपती, कभी पुलकायमान होती (और) कभी पसीजती (स्वेदयुक्त होती) जाती है—(अर्थात् कंप, पुलक, स्वेद सदा जारी हैं)।

अलंकारः—कारक दीपक (एक कर्ता कई क्रियायें), अनुप्रास

सकै सताइ न तमु विरहु निसि दिन सरस सनेह।
रहै वहै लागी दृगनु दीपसिखा सी देह ॥१४२॥

अर्थः—(मुझे अथवा नायक को) वियोगरूपी अंधकार नहीं सता सकता (क्योंकि मेरी वा उसकी) आंखों से रात-दिन (नायिका की) वही रसीली (स+रस) स्नेहयुक्त (स+नेह) दिया की टेम सी देह लगी रहती है (अर्थात् आँखों के सामने ही उस गौरांगिनी के रहने से विरहरूपी अँधेरा प्रकाशमान हो जाता है। नायक सदा नायिका के ध्यान में मग्न रहता है)

अलङ्कारः—पूर्णोपमा, रूपक, श्लेष, अनुप्रास।

नैंक न झुरसी विरह झर नेह लता कुम्हिलाति।
नित नित होति हरी हरी खरी झालरति[1] जाति॥ ॥१४३॥

१—झालरति, झालर से क्रिया बनाई गई है। लता के डार पत्ते वास्तव में झालरही सरीखे होते हैं। अतः यह शब्द उपयुक्त है।

अर्थः—(नायक वा नायिका की) प्रेमलता विरह की ज्वाला वा ताप से झुलसी हुई तनिक भी नहीं कुम्हिलाती। (उलटे) नित्य-प्रति हरी भरी होती (और) डार पत्तों से संपन्न अर्थात् भरपूर होती जाती है (विरह का यह प्रभाव देखिए)

अलङ्कारः—विशेषोक्ति, पाँचवीं विभावना (विरह ज्वाला विरुद्ध कारण से हरी हरी इ० होना कार्य की उत्पत्ति), रूपक।

छतौ[१] नेहु कागर[२] हियैं भई[३] लखाइ न टाँकु[४]।
विरह तचैं[५] उघर्यौ[६] सु अब सेंहुड़* कै सो आँकु[७] ॥१४४॥

१—छतौ, इस शब्द का एक अर्थ तो हो सकता है 'था' "प्रस्तुत होते हुए"—अर्थात् प्रेम था परन्तु गुप्त था वा प्रेम रहते हुए भी लखाई न पड़ा इत्यादि। दूसरा अर्थ हो सकता है गुप्त, अप्रकट [क्षत = नष्ट, बिगड़ा, अथवा छद् = छिपाना से निकला हुआ]—कवियों ने अछत (अ छत) शब्द का प्रयोग होते हुए, रहते हुए के अर्थ में किया है। बोल-चाल में भी ऐसा बोल लेते हैं। अतः यही दूसरा अर्थ अधिक ठीक जान पड़ता है। "परसु अछत देखौं जियत बैरी भूप किसोर" —तु० दा०।

२—कागर = कागद = कागज़।

३—भई = हुई, भू = होना, भया, भो इत्यादि इसके रूप हैं, भव भी इसी से निकला है।

४—टाँकु = टाँका हुआ, लिखावट—इस शब्द का अर्थ 'बहुत थोड़ा' भी ले सकते हैं (टाँक = एक छोटा तौल परिमाण)—अर्थात् तनिक भी लखाई न पड़ा)।

५—तचैं = तपने पर, दे० दो० सं० ११७।

६—उघरना = खुलना, प्रत्यक्ष वा प्रकट होना। "उघरे अंत न होइ निबाहू" तु० दा०।

*सेंहुड़ से सफ़ेद काग़ज़ पर लिखा हुआ अक्षर आग के सामने रखने से उघर आता है।

७—आँकु = अक्षर वा संख्या, जो अंकित किया जाय, लिखावट "कहत सबै बेंदी दिये आँक दस गुनो होत"—बिहारी।

अर्थः—हृदयरूपी कागद में प्रेम छिप गया, लिखावट लक्षित न हुई। वह (लिखावट अर्थात् प्रेम) अब विरह से तपने पर सेंहुड़ के आँक ऐसा उधर गया (जैसे सेंहुड़ के दूध से लिखे हुए अक्षर सूख जाने पर लखाई नहीं देते। परन्तु आग पर काग़ज़ को सेंकने से वे अक्षर फिर प्रकट हो जाते हैं। साथ रहने पर प्रेम छिप सा गया था। साधारण जीवन में ऐसा मिल गया था कि किसी विशेषरूप में नहीं दिखलाई पड़ता था। परन्तु वियोग होजाने पर अब अनुभव हो रहा है। वास्तव में विरह प्रेम की कसौटी है जो उसको सोने की तरह गलाकर निखार देती है और शुद्ध रूप में प्रकट कर देती है)

अलङ्कारः—पूर्णोपमा

सोवत जागत सुपन बस रस रिस चैन कुचैन।
सुरति श्यामघन की सु रति[1] बिसरैं हूँ बिसरैं न†॥१४५॥

अर्थः—(हे सखी मेरी तो विरह में यह दशा होगई है कि) सोते, जागते, स्वप्न में, रस (आनन्द) में, रिस (क्रोध इत्यादि) में, चैन (आराम) में बेचैनी में (सर्वदा, हर दशा में) कृष्ण (घन जैसे श्याम शरीरवाले प्रियतम) की सुरति (स्मृति अथवा शक्ल जो है) सो भूलने (भुलाने) से भी तनिक भर नहीं भूलती। अथवा घनश्याम की सुरति (सु+रति, सुप्रेम, प्रीति) की सुरति (याद) भुलाने से भी नहीं भूलती।

१—रत्ती, रत्ती भर, तनिक भर।

†"देव रही हिय में घरु कै न रुकै निसरै बिसरै न बिसारी"।

प्रेमचन्द्रिका

["वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं।
जोग जुगुति अरु मुकुति विधि वा मुरली पर वारौं" ॥
कृष्णगीतावली तु० दा०]

अलङ्कारः—विशेषोक्ति, यमक।

जाति मरी बिछुरी घरी जल सफरी[1] की रीति* ।
खिन खिन[2] होति खरी खरी अरी जरी[3] यह प्रीति ॥१४६॥

अर्थः—(हे सखी मैं तो) जल सफरी की भाँति घड़ी भर (भी) बिछुरी हुई मरी जाती हूँ (तनिक भी वियोग असह्य हो गया है)। अरी (सखी) यह जरी प्रीति (तो) क्षण क्षण (में) बढ़ती (ही) जाती है। [इस दोहा के शब्दों का माधुर्य देखिए। विद्यापति ने लिखा है "सेई परित अनुराग बखनइत तिले तिले नूतन होइ"]

१—सफरी = एक प्रकार की छोटी छोटी चमकीली मछली जो बहुत फरफर फरफर किया करती है—इसको पूँटी भी कहते हैं और सफरी भी। संस्कृत में एक कहावत है "गंडूषजलमात्रेण सफरी फरफरायते।" देव कवि कहते हैं "लौटि लौटि परति करौंट खटपाटी लैलै, सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति"।

२—खिन = क्षण (छन) छिन, खिन।

३—जरी (भूतकालिक क्रिया) = जली, स्त्रियां बहुधा इस शब्द का प्रयोग करती हैं। यह गालीसूचक शब्द है। इसी प्रकार मुई और मरी का भी प्रयोग है "वह मुई कहां आ रही है"। अर्थात, मरी हुई (जीवित दशा में—ऐसे शब्दों का अर्थ केवल इच्छासूचक ही समझना चाहिए), यदि मेरे अधिकार की बात होती तो वह अब तक मरी हुई होती। अर्थात् वह मार डालने योग्य है। इसी तरह जरी का अर्थ है जरा देने योग्य।

अलङ्कारः—लोकोक्ति, उपमा, अनुप्रास, वीप्सा।

रह्यौ ऐंचि[1] अंतु न लहै अवधि* दुसासन[2] वीरु।
आली वाढ़तु विरह ज्यौं पंचाली[3] कौ चीरु ॥१४७॥

अर्थ—हे सखी (प्रियतम के आने का दिन अर्थात् विरह-काल की अवधि तो नियत है तथापि मेरा) विरह (वियोग-दुख) द्रौपदी के वस्त्र की तरह बढ़ता (ही) जाता है; अवधिरूपी दुःशासन वीर (उसे) खींच रहा है (परन्तु) अंत नहीं पाता (विरह-काल की सीमा ज्यों ज्यों निकट आती जाती है, अर्थात् दिन व्यतीत होते हैं त्यों त्यों यह दुखदाई काल देखने में कम होता जा रहा है, परन्तु मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तव में उसका अंत मिल ही नहीं सकता। प्रियतम-मिलन की प्रतीक्षा में एक

१—ऐंचना, हेंचना, (हींचना), खेंचना, (खींचना)

*अवधि स्त्रीलिंग है इसका रूपक दुःशासन से करना दोष माना जाता है। एक प्रकार से यह दोष तो अवश्य है किंतु यह कोई दोष में दोष नहीं है "अचेतन के निरूपण में लिंगसाम्य की परवा कवि लोग नहीं करते" (पं० पद्मसिंह शर्मा) अन्य महाकवियों ने भी भिन्न लिंग के उपमेय और उपमान रक्खे हैं। जैसे 'प्रियः' पुँल्लिङ्ग और 'अँगुली' स्त्रीलिंग (रघुवंश)

२—दुसासन, दुः + शासन, जिस पर शासन करना अति कठिन हो, दुर्योधन का छोटा भाई और मंत्री।

३—पंचाली = पंचाल नगर की राजकन्या, द्रौपदी। पंचाल देश का नाम ब्राह्मण उपनिषद् इत्यादि प्राचीन पुस्तकों में भी पाया जाता है। यह गंगा नदी के दोनों ओर बसा था। इस देश के पंचाल नाम पड़ने के कई कारण पुराणों में दिये हैं।

एक घड़ी एक एक बरस, दो दो बरस, तीन तीन बरस इत्यादि के बराबर होती चली जा रही है।)

अलङ्कारः—पूर्णोपमा, रूपक।

विरह-विथा* जल परस विन बसियतु मो मन ताल।
कछु जानत जलथंभ[1] विधि दुर्योधन[2] लौं लाल ॥१४८॥

अर्थः—हे प्रियतम (मुझे जान पड़ता है कि तुम भी) दुर्योधन की नाईं कुछ जलस्तम्भविधि जानते हो (क्योंकि) मेरे हृदयरूपी ताल में (जो वियोग के दुखरूपी जल से भरा है) विना विरह-व्यथा जलस्पर्श के (तुमसे) बसा जाता है (अर्थात् मेरे हृदय में वास करने से उसमें जो व्यथा है वह तुमको भी लगनी चाहिए थी; किंतु तुमको मेरी हृदय की पीड़ा का अनुभव न होने से ज्ञात होता है कि तुम कोई दुर्योधन की सी विद्या जानते हो [नायिका की उक्ति तथा प्रियतम को पत्र द्वारा बुलाने का उपाय देखिए]

---

*'विथा' उपमेय स्त्रीलिंग, 'जल' उपमान पुँल्लिङ्ग दे० दो० सं० १४७।

१—जलथंभविधि, ऐसा कोई प्रयोग जिससे पानी का प्रभाव ठहर जाय अर्थात् जिसमें पानी असर न कर सके, दुर्योधन जलस्तंभनक्रिया जानने से ताल में छिप रहा और पानी का कुछ प्रभाव उसके ऊपर न पड़ा।

२—दुर्योधन = जो कठिनता से जीता जाय, भारी योधा, धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र। 'दुः' शब्द को अच्छा न समझ कर महाराज युधिष्ठिर इनको सुयोधन कहा करते थे।

अलङ्कारः—पूर्णोपमा, रूपक।

बाल बेलि सूखी सुखद[1] इहिं रूखी[2] रुख[3] घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि घनश्याम ॥१४९॥

अर्थः—हे घनश्याम! (१ बादलों के रंग की तरह श्याम, कृष्ण २ पानी से लदे होने के कारण श्याम रंगवाले बादल) बालारूपी सुखदायिनी लता इस (तुम्हारी) रूखी चेष्टारूपी धूप से सूख गई है (१ बहुत ही दुबली होगई है। २ वर्षा न होने से सूख गई है। अब आप (इसको) सुरस (सु+रस, स्व+रस, १ सुन्दर वा अपने प्रेम, २ सुन्दर वा अपने जल) से सींचकर फिर डह-

---

१—सुख+द, यह संज्ञा विशेषण घनश्याम के साथ भी लाई जा सकती है अर्थात् हे सुखद (श्रीकृष्ण) यह बालारूपी बेलि इत्यादि। यह अर्थ भी अच्छा है, क्योंकि घनश्याम और श्यामघन दोनों ही इस प्रसंग में सुखद हैं। किन्तु दिया हुआ अर्थ इससे भी अच्छा है, क्योंकि सुखद बेलि को सींचने की आवश्यकता है—किसी भी बेलि को नहीं। उसके सींचे जाने से वह स्वयं तो हरी भरी हो ही जायगी, अन्य लोगों को भी सुख पहुँचेगा।

२—रूखी = कड़ी, अरुचिकर (जैसे रूखा बचन, रूखी रोटी, रूखा घाम)।

३—रुख—शब्द फारसी = मुख, उर्दू हिन्दी में इसका अर्थ चेष्टा और दिशा भी होता है। उर्दू में इसे पुँलिङ्ग बोलते हैं। परन्तु हिन्दी में पुँलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों में बोला जाता है। बिहारी ने इसे स्त्रीलिङ्ग ही माना है। "रस की सी रुख ससिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन" किसी किसी पाठ में रुखे कर के रुख को पुँलिङ्ग कर दिया है।

डही (१ प्रफुल्लित, प्रसन्नचित्त, २ हरी भरी) कीजिए [मतिराम लिखते हैं—

"बाल अलप जीवन भई, ग्रीषम सरित सरूप।
अब रस परिपूरन करौ, तुम घनश्याम अनूप" ॥]

अलंकारः—रूपक, श्लेष, परिकुरांकुर, अनुप्रास।

मानु करत बरजति न हौं उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंहीं जाहिँगी* सहज हँसौंहीं भौंह ॥१५०॥

अर्थः—(हे बाला) मैं (तुझे) मान करते बरजती नहीं उलटे शपथ दिलाती हूँ (यह मत समझो कि मैं तुझे मान करने से रोकती हूँ। तू मान अवश्य कर, किन्तु क्या तुझसे अपनी) स्वभाव ही से हँसीली भौंहें रोषयुक्त की जायँगी? (अर्थात् तेरा स्वभाव ही ऐसा है कि तुझसे मान न किया जायगा)।

[सच पूछिए तो मान करने से बरजने के लिए इससे अधिक प्रभाव डालनेवाले वचन ढूँढ़ने से भी न मिलते। एक स्थान पर फिर कहा है "रूखे कैसे होत ये नेह चीकने नैन"। दोहे में 'उलटि दिवावति सौंह' पर विचार कीजिए। सखी उलटे सौंह (हँसौं) दिलाती है। अर्थात् हे नायिका हँसो, मान मत करो—एक समय नायिका ने झूठ मूठ का मान किया, परन्तु नेत्रों ने धोखा दे ही दिया। अतः कहती है

"हौं कसुकै रिस के करौं ये निसुके हँसि देत"]

अलङ्कारः—आक्षेप।

---

* पा० जायँगी, जाइगी।

हा हा[1] वदनु उघारि दृग सफल करैं सब कोइ।
रोज[2] सरोजनु[3] कैं परै हँसी ससी[4] की होइ ॥१५१॥

अर्थः— हा, हा, (सखी तू मान किये अपना चन्द्रमुख छिपाये क्या बैठी है मैं प्रार्थना करती हूँ तू अपना) मुँह खोल (ताकि हम) सब कोई (उसका सौंदर्य देखकर अपने) नेत्र सुफल करें। (और उसकी कोमलता देखकर) कमलों के (घर) रोना पड़े (तथा उसकी शोभा के मारे) चन्द्रमा की हँसी होय।

अलङ्कारः—प्रतीप (मुख उपमेय से सरोज और ससि उपमान का अनादर)।

वाही दिन* तें ना मिट्यौ मानु† कलह कौ मूलु।
भलैं पधारे पाहुने ह्वै गुड़हर कौ फूलु ॥१५२॥

१—हा हा—व्रजभाषा में सविनय संबोधन सूचक—इसका अर्थ यों भी कर सकते हैं कि 'मैं हाय हाय करती हूँ तू अपना मुख खोल दे'।

२—रोज पड़ना = १ रोना पड़ना (जायसी ने भी इसी अर्थ में रोज शब्द का प्रयोग किया है "परजापती हँसी और रोजू" "जहां हँसी तहां रोज") २ बुरे दिन आ पड़ना।

३—सरोज = सर वा तालाब में उगनेवाला, कमल। इससे नायिका के कमलनेत्र का अर्थ भी ले सकते हैं। (अर्थात् तुम्हारा रोष देखकर उनके बुरे दिन आ जायँगे।)

४—ससी = शशि = चन्द्रमा। इससे सपत्नियों के चन्द्रमुख का अर्थ भी ले सकते हैं।

* पा० निसि।

†टीका में मान शब्द संबोधन में समझा गया है। कुछ विद्वान् लोग इस दोहा को सखीवचन नायक प्रति मानते हैं और नायक को दोषी

अर्थः—हे मान, कलह की जड़, तू उसी दिन से (कोई दिन विशेष जब दम्पति ने एक दूसरे से मान ठाना था) नहीं मिटा। (तुम) गुड़हर के फूल होकर भले पाहुने पधारे (अर्थात् हे मान जैसे अड़हुल का फूल जहाँ रहता है वहाँ कलह पैदा किये रहता है वैसे ही तू जब से आया तब से कलह हुआ है और अब तक मिटा नहीं, तू अच्छा मेहमान रहा। जब से आया दुख ही देता रहा।) [मान वास्तव में मेहमान ही की तरह थोड़ी देर के लिए आता है। अतः चतुर सखी दम्पति को यह जनाना चाहती है कि मेहमान को आये बहुत दिन हो गये अब विदा करना चाहिए]।

अलङ्कारः—रूपक, पर्यायोक्ति।

पतिरितु औगुन गुन बढ़त मानु माह[1] को सीतु[2]।
जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी[3] मनु नवनीतु[4] ॥१५३॥

अर्थः—पति के अवगुण से (पत्नी का) मान (और) ऋतु के गुण से माघ की ठण्ड बढ़ती है, (इसके कारण) अति मृदुल

ठहराकर इसका अर्थ निकालते हैं। किंतु उपर्युक्त अर्थ सहज और साधारण है।

१—माह = माघ (का महीना) दे० दो० सं० १२२।

२—सीतु = शीत, ठंडापन।

३—रवनी = रमनी, रमणी, जिसमें रमण किया जाय, स्त्री, इस शब्द का प्रयोग तुलसीदास ने भी किया है।

"गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि, सुनि कुठार गतिघोर"।

४—नवनीत = मक्खन, नैनू।

(कोमल) स्त्री का मन (और मुलायम चिकना) नैनू कठोर (१-निष्ठुर २-कड़ा) हो जाता है (अर्थात् पति में जितना ही अवगुण होगा उसकी स्त्री उससे क्रुद्ध रहेगी और उसका कोमल हृदय कठोर होता जायगा और जाड़े का मौसिम जितना ही गुणवान् होगा अर्थात् जितना ही जाड़ा अधिक पड़ेगा उतनी ही ठण्ड बढ़ती जायगी और मुलायम नैनू कठोर होता जायगा। लल्लूलालजी ने इस दोहे का बहुत ही स्पष्ट अर्थ एक दोहे में लिखा है।

"पति अवगुन ऋतु के गुनन बढ़त मान अरु शीत।
होत मान तें मन कठिन शीत कठिन नवनीत ॥")

[यह दोहा कितना उत्कृष्ट, यथार्थ तथा शिक्षाप्रद है विशेषतः विवाहित पुरुषों के लिए]।

अलङ्कारः—यथाक्रम।

छकि रसाल[1] सौरभ सनै मधुर माधुरी[2] गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु अंध ॥१५४॥

अर्थः—(वसंत की बहार देखो) आम के बौरों की सुगंधि से छक कर (अघा कर, मस्त होकर, और) वासंती लता की मीठी

१—रसाल = आम "नव रसाल वन विहरन शीला। तु० दा०।

२—पा० माधवी, माधवी = वासंती लता, एक प्रकार की चमेली होती है—माधुरी-इस शब्द का अर्थ कोषों में मधुर शब्द ही से निकाला है किन्तु Bate साहेब ने इसका एक अर्थ "Arabian Jasmine" अरबी चमेली भी दिया है।

सुगंध से सने हुए पुष्परस से अंधे (मकरंदरूपी मद पान करके मस्त हुए) भौंरों के भुंड जगह जगह भौंरते और झँपते हैं (झूमते, मँडराते, झुकते, टूट पड़ते हैं) [यह दोहा किसका वचन है और किसके प्रति यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता—कवि की उक्ति, सखीवचन मानिनी नायिका प्रति, नयिकावचन नायक प्रति इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न अभिलाषायुक्त हो सकता है]

अलंकार:—स्वभावोक्ति (वसंत ऋतु का स्वाभाविक वर्णन)

अंत मरैंगे चलि जरैं चढ़ि पलास* की डार।
फिर न मरैं मिलिहैं अली ए निरधूम अँगार ॥१५६॥

अर्थ:—(वसंत में पुष्पित पलास को देखकर और लाल लाल फूलों को आग के गोले समझ कर विरहिणी नायिका कहती है) हे सखी अंत में (विरहाग्नि में जलकर) मरना तो है ही (ऐसा सोचकर) चलो पलास की डाली पर चढ़ कर जल मरें (नहीं तो) फिर मरने के लिए ऐसे विना धूएँ के अँगार नहीं मिलेंगे। (और धूँआ रहने पर नेत्रों तथा हृदय को अधिक कष्ट होगा। सत्य है-विरहरूपी अग्नि में आहरूपी धूँआ भी रहता है तथा स्वाभाविक आगों में भी धूँआ रहता है)।

अलङ्कार:—भ्रांति

---

*बाबू हरिश्चन्द्र लिखते हैं:—वसंत में "फूलेंगे पलास वन आगि सी लगाय कूर" कर्पूरमंजरी।

नाहिँन[१] ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास ।
मानहु[२] विरह वसंत कैँ ग्रीषम[३] लेत उसास[४] ॥१५६॥

अर्थः—(विरहिणी नायिका कहती है कि हे सखी देखो) ये चारों ओर आग जैसी प्रबल लुवैं (अथवा प्रबल आग की लुवैं) नहीं चल रही हैं (यह मत समझो कि ये लुवें हैं–इन्हें) वसंत के वियोग में ग्रीषम-द्वारा ली हुई उसासें मानो (समझो) ।

---

१ नाहिँन = दुहरा निषेध वाचक शब्द, व्रज भाषा में इसका अर्थ 'नहीं है' होता है । बिहारी ने अन्य स्थान पर भी इसका प्रयोग किया है देव इत्यादि ने भी लिखा है—प्रयाग की ग्रामीण भाषा में यह प्रयुक्त है'नहिँने = नहीं है' । दुहरा निषेध वाचक शब्द Shakespeare इत्यादि ने भी लिखा है । इससे बात ज़ोरदार हो जाती है ।

२ मानहु = मानो, समझो, दूसरा अर्थ इसका होता है मानो, गोया (as if) तब अर्थ होगा 'मानो······ग्रीषम उसास ले रहा है ।

३ ग्रीषम = गर्मी, यहाँ स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है—किन्तु पुँल्लिङ्ग में भी इसका प्रयोग हो सकता है ।

४ उसास = उच्छ्वास (उच्च + श्वास) ऊँची साँस = आह । बिहारी ने इस शब्द को स्त्रीलिङ्ग पुँल्लिङ्ग दोनों माना है ।

"पल न चलें जकि सी रही थकि सी रही उसास"—स्त्रीलिङ्ग ।
"अंगरागु अङ्गनु लगै ज्यौं आरसी उसासु"—पुँल्लिङ्ग ।

अलंकारः—सापह्नवोत्प्रेक्षाः (लुवों का निषेध कर उन्हें उसास कहा है-लुवैं ग्रीषम की उसास तुल्य हैं।)

*कहलाने[1] एकत[2] बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ दाघ निदा[3]घ ॥१५७॥

अर्थः—(ग्रीष्म की गर्मी का इतना प्रचंड प्रभाव है कि) मोर (और) सांप (और) हरिण (और) बाघ व्याकुल होकर एक ही स्थान पर बसते हैं, (इस आश्चर्यजनक घटना का कारण यह है कि) ग्रीष्म की प्रचण्ड गर्मी (प्रचण्ड तापवाली गर्मी) ने संसार को तपोवन सा बना दिया है [तपोवन में तपस्वियों के प्रभाव से सब जानवर मित्रभाव से रहते हैं अतः मोर और उसका आहार सर्प तथा सिंह और उसका आहार मृग सबके एक साथ रहने से प्रतीत होता है कि संसार तपोवन हो गया है-कोई किसी को सताता नहीं। यह गर्मी का प्रभाव है—उसने संसार को तपोवन (तप = १तपस्या २ = गर्मी, ताप) बना दिया है-इसी गर्मी से यह सब जानवर इतने व्याकुल हैं कि एक दूसरे पर धावा करना या एक दूसरे से भाग जाना इनके लिए कठिन हो गया है।]

अलंकारः—उपमा (जगत की तपोवन से), अनुप्रास।

---

१ कहलाने = १ व्याकुल होकर, २ किसलिए, दूसरा अर्थ लेने पर दोहे के पूर्वार्द्ध को प्रश्न मानना होगा। यह प्रश्न जयसिंह ने एक ऐसा ही चित्र देखकर कवि से पूछा था (दे० पृ० ४)—उत्तर भी उसी प्रश्न ही में है (व्याकुल होकर बसते हैं।) अतः चित्रोत्तर अलंकार।

२ एकत = एकत्र = एक स्थान में।

३ दीरघ (प्रचण्ड) दाघ (ताप) निदाघ (ग्रीषम) = प्रचण्ड तापवाली ग्रीष्म।

*बैठि रही अति सघन वन पैठि सदन-तन[1] माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति[2] छाँह ॥१५८॥

अर्थः—जेठ की दुपहरिया देखकर (गर्मी के डर के मारे) छाया भी छाँह चाहती है (इसी लिए वह) अति घने वन में बैठ रही है (तथा) घर के शरीर वा पिंड में (पैठि) घुस रही है। अथवा सदन तन में घुसकर सघन वन में बैठ रही। [पूर्वार्द्ध में शब्दों का प्रयोग बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। दिखलाना यह है कि ग्रीष्म ऋतु में दोपहर को सूर्य के ठीक सर पर आ जाने से परछाहीं नीचे ही छिप जाती है। अति सघन वन में सर्वदा छाया ही रहती है। इसी पर कवि कहता है कि छाया ने संसार छोड़कर बड़े ही घने जंगलों का आश्रय लिया है। गर्मी में किसी वस्तु की छाया उस वस्तु के घेरे के नीचे ही रह जाती है। अर्थात् घुसकर घेरे के पिंड में चली जाती है। सदन = घर, घर की छाया भी उसी में घुसी रहती है।]

अलंकारः—अत्युक्ति (छाया भी छाया चाहती है)।

पावक झर तें मेह झर[3] दाहक दुसह बिसेखि[4]।
दहै देह वाकैं परस याहि दृगनु हीं देखि ॥१५९॥

---

*यह दोहा कवि की उक्ति है। अथवा स्वयंदूतिका नायिका का नायकप्रति वचन उसको बाहर जाने से रोकने के लिए है। अथवा रूठ कर सघन कुंज से चलती हुई नायिकाप्रति नायक का वचन है।

१—सदन-तन = घर का शरीर, घेरे का पिंड, मकान का शरीर वा पिंड इत्यादि।

२—चाहना = इच्छा करना, इच्छा से देखना, ढूँढ़ना, खोजना।

३—झर = लड़ी, लपट। दे० दो० सं० ११६।

४—बिसेखि = विशेष समझो, अथवा विशेष।

अर्थः—(हे सखी वर्षा ऋतु का दुख कहाँ तक कहूँ) वर्षा की झड़ी (तो) आग की लपट से (भी) अधिकतर जलानेवाली (और) कठिनता से सहने योग्य है (अथवा समझ, कारण यह कि) उसके (आग के तो) छूने से शरीर जलता है (परंतु) इसको (वर्षा को) आँखों ही से देखकर (शरीर जलता है—विरहाग्नि उत्पन्न होती है।)

अलंकारः—व्यतिरेक (मेह झर अधिक दाहक है)।

वामा[1] भामा[2] कामिनी[3]* कहि बोलौं प्रानेस[4]।
प्यारी कहत खिसात[5] नहिं पावस[6] चलत विदेस ॥१६०॥

१—वामा = १ सुन्दर स्त्री (वामभाग में रहनेवाली, स्त्री) २ (वाम = टेढ़ा) टेढ़ी वा कटु बात कहनेवाली अथवा कुटिल वा कुटिला।

२—भामा = क्रोधवती स्त्री।

३—कामिनी = स्त्री, सुन्दर स्त्री, कामवती, स्वार्थी।

*यह सब शब्द साभिप्राय प्रयुक्त हैं। इस पर व्यासजी ने कुंडलियां लिखी हैं।

"पावस चलत विदेश छांड़ि जम सरिस जामिनी,
तऊ कामना करत तिहारी कहहु कामिनी।
मान करन को रोष यादि करि भाषहु भामा,
सुकवि वाम विधि भयो कहहु यासो मोहि वामा"।

४—प्रान + ईस = प्राणपति। इस शब्द से वह सूचित करती है कि तुम मेरे प्राणों के मालिक हो। मरने के लिए इस तरह से मत छोड़ जाओ।

५—खिसात = लजात।

६—पावस = वर्षा।

अर्थः—हे प्राणपति ! वर्षाकाल में विदेश जाते (समय मुझे) प्यारी कहते (तुम) लजाते नहीं (यदि मैं तुम्हारी प्यारी होती तो तुम मुझको इस ऋतु में अकेली छोड़कर विदेश न जाते क्योंकि विरह में मेरे प्राण निकल जायँगे और जो प्यारी होती है उसका प्राण नहीं लिया जाता। इससे मालूम होता है कि तुम मुँह से तो प्यारी कहते हो, किंतु हृदय से मुझे मारने पर तैयार हो। इस दोरंगी चाल पर लज्जित हो। हे प्राणेश ! जो आप रहकर मेरे प्राणों की रक्षा करना नहीं चाहते तो मुझे) वामा (कुटिला वा कटूक्ति कहनेवाली), भामा (क्रोधी), कामिनी (कामवती, स्वार्थी) कहके बोलो (तभी तुम्हारे हृदय और मुख की बातें एक हो जायँगी)।

अलंकारः—परिकुरांकुर।

घन[1]घेरा छुटि गो हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनो आइ जगु सरद सूर नरनाह[2]॥१६१॥

अर्थः—(वर्षाऋतु के बाद शरदृऋतु आगई अब) शरदूरूपी शूर नृपति ने आकर जगत को सुखी और शान्तिमय कर दिया। बादलों का घेरा एवं डाकुओं और घातकों का घेरा छूट गया (और) चारों ओर हर्षपूर्वक रास्ते चलने लगे (अर्थात् लोग आने जाने लगे) [कवि की उक्ति अथवा सखीवचन—अतः हे नायिका, तुम्हारे प्रियतम भी अब आ जायँगे]।

अलंकारः—श्लेष (घन = १ बादल २ मार डालनेवाला), रूपक।

---

१ घन = १ बादल २ मार डालनेवाला, घातक, डाकू इत्यादि जो वीर राजा के आने से भाग जाते हैं।

२—नर + नाह = नृपति, राजा।

*लगत सुभग[1] सीतल किरन निसि सुख दिन अवगाहि[2]।
माह ससी भ्रम सूर त्यों[†] रहति चकोरी चाहि[3] ॥१६२॥

अर्थः—(सूर्य ऐसा तापरहित हो गया है कि) सुन्दर (सुहावनी) शीतल किरण के लगते (स्पर्श से) रात्रि का आनंद दिन (ही) में पाकर माघ के महीने में चकोरी चन्द्रमा के भ्रम से सूर्य (ही) की ओर (त्यौं = ओर, तरफ, दिशा) देखती रहती है।

अलंकारः—भ्रांति (सूर्य को चन्द्रमा समझना)।

---

*हेमंत में दिन घटने और रात्रि बढ़ने का वर्णन कवि ने यों किया है।

"आवत जात न जानिये तेजहिं तजि सियरान,
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ खरो पूस दिनमान।"
"ज्यों ज्यों बढ़त विभावरी त्यों त्यों बढ़त अनंत,
ओक ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमन्त।"

(सियरान = ठंडा हो गया। "सियरे बदन सूखि गये कैसे" तु० दा०; जँवाई = जामात = दामाद; विभावरी = रात्रि; ओक = घर)

१—सुभग = सुन्दर।

२—अवगाहि = डूब कर, निमग्न होकर, पाकर।

† पा० तन।

३—चाहना = देखना, दे० दो० सं० १२८।

जोन्ह नहीं यह तमु वहै किए जु जगत निकेतु।
होत उदै ससि के भयौ मानहु ससहरि[1] सेतु ॥१६ ॥

अर्थः—(हे सखी !) यह (उजाला जो तुम देख रही हो) चाँदनी नहीं है (यह वास्तव में) वही अंधकार है जो (सारे) संसार में घर किये है [विरहिणी नायिका को समस्त संसार अंधकारमय दिखाई दे रहा है] चन्द्रमा के उगने पर डर करके मानो (यह अंधकार) स्वेत हो गया है (यह सफ़ेदी चंद्रिका की नहीं है क्योंकि वह तो शीतल होती है और तापहरण करती है। यह तो मुझे और जलाये देती है)।

अलङ्कारः—उत्प्रेक्षा (चाँदनी मानो भय से श्वेत हुआ अंधकार है) अपह्नुति (जोन्ह का निषेध कर उसको अंधकार कहा है)

रुक्यौ साँकरैं कुंजमग करतु झाँझि[2] झकुरातु[3]।
मंद मंद मारुतु तुरँगु खूँदतु[4] आवतु जातु ॥१६४॥

१—ससहरि = भयभीत होकर।

२—झाँझि = झँझ करता हुआ, शरारत करता हुआ।

३—झकुरातु = झकोर लेता है, झूमता है, झोंका लेता है।

४—खूँदतु = खूँदता है। खूँद करना घोड़े के टाप उठाने, फिर चंचलता से पटकने और अस्थिर रहने को कहते हैं। दूसरा अर्थ इसका कुचलना, विदलित करना है। विरहिणी नायिका कहती है कि सुहावने स्थान में यह सुहावना पवन इस समय मुझे चंचल घोड़े की तरह खूँदे डालता है, मुझे बेचैन किये डालता है। पा० खूँदिन, खूँदनि।

अर्थः—संकीर्ण कुंज मग में रुका हुआ झँझ करता (और) झोंका लेता हुआ पवनरूपी घोड़ा मन्द मन्द (मन्द चाल से) आता जाता खूँदी करता है (वा खूँदी करता हुआ आता जाता है) [विहारी ने पवन का बहुत अच्छा वर्णन किया है। लिखते हैं

"चुवत सेत मकरन्द कन तरुतरु तर विरमाय।
आवत दक्षिण देस से थक्यो बटोही वाय" ॥
"रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर ॥"]

अलङ्कारः—रूपक।

तंत्रीनाद[1] कवित्त रस सरस राग रति रंग* ।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ॥१६५॥

अर्थः—तन्त्रीनाद (वीणा, सितार इत्यादि का स्वर), काव्य-स्वाद, रसयुक्त गाना वा स्नेह (और) प्रेम (रतिरङ्ग = प्रीति) में अनबूड़े (जो बूड़े नहीं हैं अर्थात् थोड़ी दूर गये हैं परन्तु अभी बूड़ नहीं गये सो) बूड़े (बूड़ गये, नष्ट हो गये, कहीं के न हुए; परन्तु) जो सर्वांग डूब गये (अर्थात् इनमें लीन हो गये, वास्तव में वही) तरे (अच्छे रहे, सुधर गये) [इनमें लवलीन हो जाना चाहिए और नहीं तो इनके पास ही नहीं आना चाहिए। दूसरा अर्थ यों भी कर सकते हैं कि जो इनमें नहीं बूड़े वे बूड़ गये अर्थात् संसार में उनका जन्म लेना व्यर्थ हो गया। और जो इनमें डूबे वही वास्तव में आनन्दपूर्वक संसार पार होगये]

अलङ्कारः—विरोधाभास (जो डूबे सो तरे इत्यादि), अनुप्रास।

१—तन्त्री + नाद = तार का बाजा + शब्द = सितार इत्यादि का शब्द।

* देव कवि कहते हैं "बैठो गड़ि गहिरे तौ बैठो प्रेम घर में" प्रेम-चन्द्रिका।

चटक न छाँड़तु घटत हूँ सज्जन नेह गँभीरु ।
फीकौ परै न वरु फटै रँग्यौ चोल रँग[1] चीरु ॥१६६॥

अर्थः—सज्जन (मनुष्यों) का गंभीर (पक्का) प्रेम घटने से भी (हीन दशा में होने से भी, प्रेमपात्र के प्रेम सँभालने के अयोग्य हो जाने से भी) चटक रङ्ग (अपना चटकीलापन) नहीं छोड़ता (जैसे) चोल रङ्ग में रँगा हुआ वस्त्र फीका नहीं पड़ता (अपना रङ्ग नहीं छोड़ता) चाहे वह फट ही (क्यों न) जाय।

अलङ्कारः—प्रतिवस्तूपमा ।

इहीं आस अटक्यो रहतु अलि गुलाव कैं मूल ।
ह्वैहैं फेरि† बसंत ऋतु इन डारनु वे फूल ॥१६७॥

अर्थः—भौंरा गुलाब की जड़ (फूल झड़े हुए ठूँठे डन्ठल) में इसी आशा में अटका (लिपटा) रहता है (कि) फिर बसंत ऋतु में इन डालियों में वही फूल लगेंगे (जिनको गत वसंत में देखा था यद्यपि वर्तमान समय में उससे यह कहा जा रहा है कि

"जिन दिन देखे वे सुमन गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब की अपत कँटीली डार ॥")

१—चोल (मजीठ) लकड़ी को औटा कर लाल रङ्ग निकालते हैं। उसमें तेल या लाह का रस इत्यादि मिलाकर पक्का रङ्ग बनाते हैं जिसको चोलरङ्ग कहते हैं। नेह शब्द (नेह = १ प्रेम २ तेल) के प्रयोग में चतुरता भरी है।

† पा० बहुरि ।

[जिनसे लाभ हुआ था उनके समयपरिवर्तन में भी विचारवान् लोग उनका साथ नहीं छोड़ते]

अलङ्कारः—अन्योक्ति (भ्रमर के बहाने)।

मोरचन्द्रिका[१] स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमानु[२]*।
लखिबी[३] पाइनु पर लुठति सुनियतु राधा मानु ॥१६८॥

अर्थः—हे मोरचन्द्रिका (तू) श्याम (श्रीकृष्ण) के मस्तक पर चढ़कर (उनके सिर पर रहने से, उनसे सम्मान पाकर) क्यों घमंड करती है। (इस उच्च पद को पाकर अभिमान मत कर क्योंकि तू जिसका बल पाके गुमान करती है वह स्वयं किसी और के अधीन है। अतः थोड़ी ही देर में तू इस नीच दशा को प्राप्त होगी कि) पाँवों पर लोटती हुई देखी जायगी (क्योंकि) राधा का मान सुना जाता है (सुनते हैं कि राधिकाजी ने मान किया है। उनको मनाने के लिए श्याम उनके पैरों पड़ेंगे) [यह सखीवचन चन्द्रिका मिस श्याम प्रति भी हो सकता है। राधा के पास उनको ले चलने का यह अच्छा उपाय है]।

अलङ्कारः—अन्योक्ति (मोरचन्द्रिका के बहाने किसी अन्य व्यक्ति को उपदेश किया जा रहा है)।

१—मोरचन्द्रिका दे० दो० सं० ५।

२—गुमान = अभिमान, घमंड, अहंकार।

*आर्यासप्तशती में लिखा है।

"शङ्करशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले।
फलमेतस्य भविष्यति चंडीचरणरेणुमृजा" ॥

३—लखिबी=देखी जायगी, दे० पृ० १६।

गोधन[1] तूँ हरष्यौ हियैं घरियक* लेहि पुजाइ ।
समुझि परैगी[2] सीस पर परत पसुनु के पाइ ॥१६९॥

अर्थः—हे गोवर्द्धन तू हृदय में हर्षित हुआ (उच्च पद पाकर गर्व से आनन्दित हुआ) एक घड़ी (थोड़ी देर अपने को) पुजवा ले (परन्तु शीघ्रही) सिर पर पशुगणों के पैर पड़ते ही (अर्थात् उनके द्वारा कुचले और रौंदे जाने पर) जान पड़ेगी (यह सब तेरा घमण्ड भूल जायगा—तूने अपने को सचमुच गोवर्द्धन पर्वत ही समझ रक्खा है—यह अभिमान अभी मिट जायगा।) ऐसी ही बात काग प्रति भी विहारीलाल ने कही है।

"दिन दस आदर पाइकै करि लै आपु बखानु ।
जौ लगि काग सराध पखु तौ लगि तौ सनमानु ॥"

१—गोधन, कार्तिकशुक्ल प्रतिपदा को किसान लोग गोबर का गोवर्द्धन बनाकर पूजते हैं—पूजने के बाद ही उसको कूटते हैं (गोधन कूटना प्रयुक्त भी है)—उसी गोवर्द्धन पर बैल खड़ा करके बैल को पूजते हैं—यह पूजा बहुधा द्वार के सामने रास्ते पर हुआ करती है अतः पूजा समाप्त होते ही यह पर्वत कुचलकर भूमि के बराबर हो जाता है।

* पा० घरीक (घरी + इक या एक), निधरक।

२—जान पड़ना, समुझ पड़ना, मुहाविरा है—इसके प्रयोग से ठीक रास्ता न चलनेवालों को (शुद्ध आचरण न रखनेवालों को) फल भोगने का समय याद दिलाया जाता है।

अलङ्कारः—अन्योक्ति (गोधन मिस किसी दुष्टप्रकृति वा अयोग्य पदाधिकारी वा सम्मानित व्यक्ति को उपदेश दिया है), अनुप्रास।

*नहिँ परागु[1] नहिँ मधुर मधु नहिँ विकासु इहिँ काल।
अली कली ही सौं बँध्यो आगें कौन हवाल[2] ॥१७०॥

अर्थः—हे भ्रमर (तू पुष्प की) कली ही में (इतना) बँध गया। (कि सब कुछ कर्तव्य छोड़ दिया तो) आगे (इसके खिलने पर तेरी) क्या दशा होगी। इस समय (अभी) तो (इसमें) न पुष्परज है न मीठा रस है न विकास है (अभी कली खिली भी नहीं है)।

अलङ्कारः—अन्योक्ति (भ्रमर के बहाने किसी ऐसे व्यक्ति को उपदेश किया है जो किसी वस्तु पर उचित समय के पहले ही अत्यासक्त हो गया है)।

चितु दै देखि† चकोर त्यौं तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै‡ अँगार की चुगै कि चन्दमयूख[3] ॥१७१॥

अर्थः—चित्त देकर चकोर की ओर देखो (कि वह अपना व्रत किस दृढ़ता से पालन करता है—वह) या तो आग की चिंगा-

---

* दे० पृ० ४

१—पराग = पुष्परज।

२—हवाल = हाल, दशा, (अरबी में हाल का बहुवचन शब्द अहवाल है—उसीका यह अपभ्रंश है)।

† पा० चितै।

‡ पा० चुनै।

३—मयूख = किरण, ज्योति, दीप्ति।

रियाँ चुगता है या चन्द्र की किरणें चूसता है—भूख लगने पर (किसी) तीसरे (पदार्थ) को (कदापि) नहीं भजता (भोग करता वा ध्यान में लाता) है।

[इस दोहे को मानिनी नायिका प्रति सखी का वचन भी मान सकते हैं—पतिरूपी चकोर या तो प्रिया के चन्द्रमुख की शोभारूपी मयूख ही पान करता है या विरह-रूपी अग्नि की चिनगारियाँ हीं]

अलङ्कारः—अन्योक्ति (ऐसे व्यक्ति को उपदेश किया है जो किसी उच्च पदाधिकारी वा दृढ़व्रत मनुष्य से कोई निकृष्ट कर्म करवाना चाहता है—अथवा चकोर का उदाहरण देकर व्रत पर दृढ़ रहने की शिक्षा दी गई है), अनुप्रास।

बहकि[1] बड़ाई आपनी कत राँचत[2] मति भूल।
बिनु मधु मधुकर कैं हियैं गड़ै[3] न गुड़हर[4] फूल ॥१७२॥

अर्थः—हे गुड़हर मतिभूल (वा बुद्धि के भ्रम से) बहककर अपनी प्रशंसा वा प्रतिष्ठा से क्यों प्रसन्न हो रहा है? (तू ऐसा फूल है कि जिस पर कोई भौंरा अर्थात् गुणग्राहक नहीं जाता, क्योंकि) भौंरे के हृदय में बिना मधु का फूल नहीं गड़ता (प्रभाव डालता)।

१—बहकना—किसी उमङ्ग में आकर अथवा भूल में पड़ कर ठीक मार्ग से विचलित हो जाने (अर्थात् पूर्ण रीति से उचित अनुचित का ध्यान न करके कुछ कहने या करने) को बहकना कहते हैं।

२—रांचत = (रंजन से) प्रसन्न होता है "सांचे राँचे राम"।

३—हृदय में गड़ना = मोहित कर लेना, लुभा लेना (जैसे वह मूर्ति मेरे हृदय में गड़ गई है), चुभना (जैसे उसकी बात मेरे हृदय में गड़ गई।)

४—गुड़हर, दे० दो० सं० १५२।

अलङ्कारः—अन्योक्ति (गुड़हर मिस किसी गुणहीन प्रतिष्ठित वा धनाढ्य मनुष्य के प्रति वचन)

पटु पाँखै भख काँकरै सपर[1] परेई[2] सङ्ग !
सुखी परेवा पुहुमि[3] मैं एकै तुंहीं विहंग[4] ॥१७३॥

अर्थः—हे परेवा पक्षी संसार में एक तू ही सुखी है (क्योंकि तेरा) वस्त्र पङ्ख ही है (अर्थात् जो कुछ ईश्वर ने दे दिया है उससे अधिक की चाह तू नहीं रखता और जो है सो सदा ही तेरे साथ रहता है) भोजन कङ्कड़ है (जो सर्वत्र प्राप्य है) और सपर परेई (सदा तेरे) साथ है। (अर्थात् तू उतने ही से संतुष्ट है—पङ्ख-मात्र पट, कङ्कर-मात्र भक्ष्य तथा एक सहगामिनी स्त्री तेरे लिए काफ़ी है)।

अलंकारः—अन्योक्ति

*स्वारथु सुकृतु न श्रम† वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराऐं पानि परि तूं पच्छीनु न मारि ॥१७४॥

१—सपर = स + पर = पक्षयुत, जो (तेरे) साथ उड़ती है। पा० सदा।

२—परेई = परेवा पक्षी (कबूतर) की स्त्री (कबूतरी)।

३—पुहुमि = पृथ्वी, संसार। पा० भूमि, जगत।

४—विहङ्ग = पक्षी, चिड़िया आकाशगामी (विहायस् = आकाश, ग = गमन)

*जान पड़ता है कि विहारी ने यह दोहा जयसिंह ही पर कहा था—पराये (मुसल्मानों के) हाथ पड़कर हिन्दुओं (पक्षियों) से उनका लड़ना विहारी को पसन्द न था—जयसिंह को शिवाजी ने भी बहुत कुछ लिखा था एक शेर में लिखा था—

"अज़ी तुर्क ताज़ी चे आयद् तुरा, हवायत् सुराबे नुमायद् तुरा"

†आर्यासप्तशती में लिखा है—

"आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय ! तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरङ्ग एषोऽधुनैवान्यैः" ॥

अर्थः—हे वाज़ ! तू दूसरे के हाथ में पड़कर चिड़ियों को न मार (अर्थात् अपने मालिक के वश होकर वा फंदे में पड़कर अन्य पक्षियों को मत सता)। हे विहङ्ग (स्वच्छन्दविहारी, आकाशपक्षी) विचार कर देख (तेरा) श्रम (पक्षियों के मारने में) व्यर्थ है न सुकृत (है न) स्वार्थ है (अर्थात् न तो इससे कोई तेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है न पुण्य ही मिलता है—न तो उस शिकार में से तुझे पेट पर खाने ही को मिलता है न कोई तेरा यशगान ही करता है)।

अलङ्कारः—अन्योक्ति (वाज के मिस अनर्थकारी सेवक तथा उसके स्वामी के प्रति उपदेश), श्लेष (विहंग, पक्षिन), अनुप्रास।

नहिं पावसु ऋतुराजु यह तजि तरवर चित भूल।
अपतु भएँ विनु पाइहै क्यों नव दल फलफूल ॥१७५॥

अर्थः—हे श्रेष्ठ वृक्ष (तू अपने) चित्त की भूल छोड़ दे, यह वर्षा ऋतु नहीं है (प्रत्युत) ऋतुराज (वसंत) है (इस ऋतु में) विना अपत (अ + पत = पत्रहीन, मानहीन, निर्लज्ज) भये नये कोंपल (तथा) फलफूल क्यों पायेगा? (जैसे वसंत में जो ऋतुओं का राजा है नवीन पत्ते निकलने के लिए पहले पुराने पत्तों को झड़ना होता है यद्यपि सामान्य वर्षाकाल में विना पतझड़ ही के फल-फूल निकल आते हैं उसी प्रकार राजाओं इत्यादि के यहां से प्रतिष्ठा तथा लाभ पाने के लिए अपना पहले का मान, आदर, गर्व इत्यादि सब खो बैठना पड़ता है यद्यपि साधारण लोगों से लाभ पाने में उसकी आवश्यकता नहीं होती)।

अलङ्कारः—अन्योक्ति (वृक्ष पर अन्योक्ति करके राजाओं से लाभ उठाने की आकांक्षा करनेवाले के प्रति वचन)।

विषम[1] वृषादित[2] की तृषा जिये* मतीरनु[3] सोधि[4]।
अमित अपार अगाध जलु मारौ मूँड़[5] पयोधि ॥१७६॥

अर्थः—प्रचंड ग्रीष्म की प्यास में (मरुभूमिवाले तो) तरबूज़ा खोजकर जिये (फिर ऐसी दशा में) परिमाणरहित अपार अथाह जलवाले समुद्र को मूँड़ मारो (अर्थात् जब आवश्यकता पड़ने पर छोटी ही वस्तु काम आती है तो दूर की अप्राप्य बड़ी वस्तु को लात मारो। अथवा इतना बड़ा खारा समुद्र किस काम का जब प्यास बुझानेवाला जल छोटे तरबूज़े ही में मिलता है। अतः बड़ी अयोग्य वस्तु को छोड़ कर छोटी लाभदायक वस्तु को धारण करो) [कवि ने ऐसा ही वर्णन निम्नलिखित दोहे में भी किया है—

"प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीरु हीं मारू[6] कहत पयोधि"[7]।

१— वि + षम = ना बराबर, असमान, कठिन, कठोर, प्रचंड।

२—वृष + आदित्य, वृष राशि का सूर्य, जब सूर्य वृष राशि पर हो, जेठ, ग्रीष्म (आदित्य सूर्य का एक नाम है "आदित्यः प्रथमो नामः द्वितीयम् तु दिवाकरः......")।

* पा० जियो।

३—मतीर = तरबूज़ा, (राजपूतानी शब्द)

४—सोधना = खोजना, ढूँढ़ना।

५—मूँड़ मारना = सिर से मारना, फेंकना, परवाह न करना, जैसे लात मारना—पा० मूढ़ रखने पर पयोधि का विशेषण होगा, मूर्ख समुद्र जो काम नहीं आता, प्यास नहीं बुझाता।

६—मारू = मारवाड़ी, मरु देश का।

७—पयोधि, जलसागर वा क्षीरसागर, यहां पर क्षीरसागर अर्थ है। दे० दो० सं० १०५।

अलंकारः—अन्योक्ति, लोकोक्ति, अनुप्रास।

जात जात बितु[1] होतु है ज्यौं जिय मैं संतोषु।
होत होत जौ होइ तौ होइ घरी मैं मोषु ॥१७७॥

अर्थः—धन (के) जाते जाते (अर्थात् नष्ट होते) जिस प्रकार मन में संतोष होता है (कि इतना हमारे भाग्य का नहीं था, ईश्वर को यही पसंद था इत्यादि) (उसी प्रकार) यदि (धन के) होते होते (उपार्जन होते यह संतोष) हो (कि जितना हमारे भाग्य का होगा वा ईश्वर को पसंद होगा उतना मिलेगा और हम सुमार्ग कुमार्ग तथा धर्म-अधर्म का विचार करके धन इकट्ठा करें) तो घरी भर में (थोड़े ही समय में) मोक्ष हो जाय।

अलङ्कारः—संभावना।

दीरघ[2] साँस न लेहि दुख सुख साईं हिं न भूलि।
दई दई[3] क्यौं करतु है दई दई सु कबूलि ॥१७८॥

अर्थः—(तू) दुख में (विपत्ति पड़ने पर) लम्बी साँस न ले (और) सुख में मालिक (ईश्वर) को न भूल (दुख पड़ने पर) हा दैव! हा दैव! क्यों करता है? (जो) ईश्वर (दई) ने दिया (दई) उसको (क़बूल) अंगीकृत करो (संतुष्ट रहो और धैर्य धारण

१—वित्त = धन, दे दो० सं० १२ "चितु बितु बचत न..."

२—दीरघ = लम्बा, बड़ा, भारी, लम्बी सांस दुख पड़ने पर बहुत निकलती है।

३—दई, हा दैव, हा राम इत्यादि—दैव (= देवता, ईश्वर) शब्द से अपभ्रंश अनेक शब्द इस प्रकार से प्रत्युक्त हैं जैसे दैव, दैया, दई, दईआ, दैआ, दइव, दउब इत्यादि।

करो) [कुछ इसी तरह का निम्न लिखित दोहा भी है, परंतु इसका अर्थ शृंगाररस में भी लग सकता है—

"दियो सो सीस चढ़ाय लै आछी भाँति अएरि[1]।
जापै सुख चाहत लियो ताके दुखहिं न फेरि॥"]

अलङ्कारः—यमक

पाइल पाइ लगी रहै लगौ अमोलिक[2] लाल।
भोडर हूँ की भासिहै[3] बेंदी भामिनि[4] भाल॥१७९॥

अर्थः—पाइल (पायज़ेब) पैर (ही में) लगी रहती है (चाहे उसमें) बहुमूल्य माणिक (ही क्यों न) लगा हो, (परंतु) भोंडर (अबरख) की भी बेंदी (टिकुली) सुंदरी के ललाट पर शोभा देगी (अर्थात् नीच व्यक्ति धन इत्यादि होने से भी नीच ही पद पायगा किंतु गुणवान् श्रेष्ठ व्यक्ति सदा उच्च पद को प्राप्त होता है)

अलङ्कारः—अन्योक्ति, अनुप्रास।

मूड़ चढ़ाएँऊ रहै पर्यौ पीठि कच भारु।
रहै गरैं परि राखिबौ* तऊ हियैं पर हारु॥१८०॥

१—अएरि = अंगीकृत कर।

२—अ + मोलिक = अमूल्य, बहुमूल्य।

३—भासिहैं = भासित होगी, शोभा देगी (भास = प्रकाश, चमक, दीप्ति, शोभा)।

४—भामिनि = स्त्री, सुन्दर स्त्री (भाम = क्रोध अतः भामा, भामिनी = क्रोधवती स्त्री, इस क्रोध का अर्थ मान है और मान करनेवाली सुन्दरी हुई। इसलिए भामा वा भामिनी सुन्दर स्त्री को कहते हैं, दे० दो० सं० १६०)।

* पा० राखियें।

अर्थः— सिर पर चढ़ाने पर भी (अति आदर करने पर भी) कचभार (केशसमूह) पीठ ही पर पड़ा रहता है (उसको पीछे ही स्थान मिलता है, किंतु) गले पड़ने पर (१ सिर से नीचे रहने पर, २ गले पड़ कर अर्थात् विना वुलाये ही पड़ा रहता है तिस-पर) भी हार हृदय पर (आगे की ओर, उच्च पद पर) रखने योग्य है [मूड़ चढ़ाना, पीठ पर पड़ना, गले पड़ना, हृदय पर, कच (कच्चा, अपरिपक्व, अश्रेष्ठ व्यक्ति), हार (१ माल २ सब गुणों में दत्त, श्रेष्ठव्यक्ति) के भिन्न अर्थों से कवि ने कैसा काम लिया है।]

अलङ्कारः—अन्योक्ति (वाल और हार के वहाने योग्य और अयोग्य व्यक्ति का स्थान वतलाया गया है), श्लेष।

वड़े न हूजै गुननु विनु विरद[1] वड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु गहनौ गढ्यौ न जाइ॥१८१॥

अर्थः—विना गुणों (अपनी योग्यता) के प्रशंसात्मक नाम की वड़ाई पाकर (केवल वड़े कहलाने से) वड़ा (योग्य, श्रेष्ठ) नहीं हुआ जाता (प्रत्यक्ष है कि लोग) धतूरे को 'कनक' (१ धतूर, २ सोना) कहते हैं (परंतु कनक नाम ही पा जाने से उससे वास्तविक कनक अर्थात् सुवर्ण की नाईं) गहना नहीं गढ़ा जाता। [इसी प्रकार कहा है—

"गुनी गुनी सव कोउ कहै निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क तें अर्क[2] समान उदोत"॥]

अलङ्कारः—अर्थान्तरन्यास, अनुप्रास।

१—विरद = विरुद = प्रशंसासूचक नाम, जैसे विरदावली।

२—अर्क = १ अकौआ, मदार, २ सूर्य।

नीच हियें हुलसे[1] रहैं गहे गेंद के पोत[2] ।
ज्यौं ज्यौं माथें मारियत त्यौं त्यौं ऊँचे होत ॥१८२॥

अर्थः—नीच (प्रकृति के मनुष्य) गेंद का स्वभाव धारण करके हृदय में हुलसे रहते हैं (हुलास रखते हैं, प्रसन्न होते हैं, उछलते हैं) ज्यों ज्यों सिर पर मारे जाते हैं (मार खाते हैं, निरादृत होते हैं) त्यों त्यों ऊँचे होते हैं (उछल कर ऊँचे चढ़ जाते हैं। अपने को बड़ा समझते हैं)।

अलङ्कारः—दृष्टांत।

कोरि[3] जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहिं बीचु[4] ।
नल बल जलु ऊँचै चढ़ै अंत नीच कौ नीचु ॥१८३॥

अर्थः—कोई करोड़ यत्न किया करो (परंतु) प्रकृति (स्वभाव) में अंतर नहीं पड़ता (जैसे) नल के सहारे (बल पर) पानी ऊँचा चढ़ता है (फव्वारा द्वारा ऊपर को निकलता है, परन्तु फिर) अंत में नीच का नीच (ही हो जाता है—फिर नीचे ही को गिरने लगता है)।

अलङ्कारः—अर्थान्तरन्यास (दृष्टांत द्वारा नियम का समर्थन)।

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध ।
राखौ मेलि कपूर मैं हींग न होइ सुगंध ॥१८४॥

१—हुलास, उल्लास शब्द से आया है।

२—पोत = स्वभाव, ढङ्ग।

३—कोरि = कोटि, करोड़।

४—बीचु = अन्तर, भेद, जैसे 'उनमें उनमें कुछ बीच नहीं है', 'हमारी बात में कभी बीच नहीं पड़ सकता' इत्यादि।

अर्थः—(सत्) संगति (से भी) कुमति के धंधे में पड़े हुए (नीच कामों में लगे हुए लोग) सुमति नहीं पाते (उनकी बुद्धि ठीक नहीं होती जैसे) हींग (को चाहे) कपूर (ही) में (जो सामान्यतः अपने निकट के पदार्थों को सुगंधित कर देता है) मिला कर रखो (लेकिन वह) सुगंध नहीं होगी। [सूरदास ने लिखा है—

"कहा होत पय पान कराए विष नहिं तजत भुजंग
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए गंग
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग"]

अलङ्कारः—अर्थान्तरन्यास (दृष्टांत द्वारा समर्थन), अतद्गुण (साथ रहने पर भी हींग में कपूर का गुण नहीं आता)।

बुरौ बुराई जौ* तजै तौ चितु खरौ डरातु† ।
ज्यौं निकलंकु मयंकु[1] लखि गनै[2] लोग उतपातु[3] ॥१८५॥

---

* पा० छिनु

† पा० सकात

१—कलंकरहित चन्द्रमा (मयंक, मृगांक = चन्द्र), ज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा का काला दाग दिखाई न देने पर हिम-वर्षा अथवा कोई बड़ी दुर्घटना होनी चाहिए।

२—गनना वा गिनना = गणना करना—यह शब्द गणितशास्त्र वा ज्योतिष से लिया गया है—ज्योतिष में ग्रहों इत्यादि की चाल गिनकर भविष्य की घटनाएँ बताई जाती हैं—अतः गनना का अर्थ अनुमान करना, भविष्य बतलाने के लिए गणित क्रिया करना इत्यादि होता है। कहते भी हैं—

"पंडितजी मेरा प्रश्न गिन दीजिए"

३—उतपात = (उत् + पात) उपद्रव।

अर्थः—यदि बुरा (नीच, कुटिल प्रकृति का मनुष्य) बुराई छोड़ दे (किसी समय अच्छा प्रतीत हो) तो मन बहुत डरता है (लोगों के हृदय में भय उत्पन्न होता है) जैसे चन्द्रमा को बिना कलंक का (श्यामतारहित) देखकर लोग उपद्रव गिनते हैं (बड़े उतपात का अनुमान करते हैं)

अलङ्कारः—उदाहरण।

न ए बिससियहि[१] लखि नए दुरजन दुसह सुभाइ।
आँटैं[२] परि प्राननु हरत काँटैं लौं लगि पाइ॥१८६॥

अर्थः—नये (झुके हुए, नम्र हुए) देखकर ये दुसह स्वभाव वाले दुर्जन (दुखदाई लोग) विश्वास न किये जायँ (क्योंकि ये दुर्जन) दाव में पड़कर भी कंटक की तरह पैर लगकर (पैरों पर पड़कर एवं पैरों में चुभ कर) प्राण हर लेते हैं (अति दुख देते हैं) [तभी तो गोसाईं जी ने लिखा है—

"बरु भल बास नरक कर ताता,
दुष्ट संग जनि देइ विधाता"।]

अलङ्कारः—पूर्णोपमा, यमक, अनुप्रास।

कैसें छोटे नरनु तैं* सरत[३] बड़नु के काम।
मढ़्यौ दमामौ[४] जातु क्यौं कहि चूहे कैं चाम॥१८७॥

---

१ पा० बिससिये।

२—आंट (अर्त्ति शब्द से जिससे आरत भी बना है) = दुख, दांव, दाब, वश।

*पा० क्यौं न ओछे नरन सो।

३—सरत, काम सरना = काम होना (सरना = चलना); पा० होत।

४—दमामा = नगाड़ा जो ऊँट इत्यादि के चमड़े से बनाया जाता है।

अर्थः—छोटे आदमिओं से बड़ों के काम (बड़ों को लाभ पहुँचानेवाले अथवा जो बड़े लोग करते हैं) कैसे चल सकते हैं! कहो चूहे के चमड़े से दमामा कैसे मढ़ा जा सकता है।

अलङ्कारः—अर्थान्तरन्यास।

दुसह[1] दुराज प्रजानु कौं क्यों न बढ़ै दुखदंदु[2]।
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस[3] रवि चंदु ॥१८८॥

अर्थः—दुसह द्विराज्य में (एक ही देश में दो प्रचंड राजा होने पर) प्रजाओं को दुख दंद क्यों न बढ़े? जैसे) अमावस्या (की रात्रि) को सूर्य और चन्द्रमा मिलकर (एक ही राशि पर होकर) संसार में अधिक अँधेरा (१ अँधेरा, २ अँधेर, उतपात) करते हैं।

अलङ्कारः—दृष्टांत, अनुप्रास

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़िये खोटैं ग्रह जपु दानु ॥१८९॥

अर्थः—(संसार की ऐसी ही रीति है कि) जिसके शरीर में बुराई बसती है (अर्थात् जिससे हानि का भय रहता है) उसी का

१—दुसह = दु + सह = कठिनता से सहनेयोग्य, दुखदाई वा प्रचंड, तेजवाला।

२—दुखदंदु, दुखों की लड़ाई, भारी दुख। पा० अतिदंद।

३—मावस = अमावस्या, इस दिन चन्द्र-सूर्य एक ही राशि पर रहते हैं, पृथ्वी के एक ही ओर दोनों रहते हैं—अर्थात् चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच में आ जाता है इसी लिए दिखलाई नहीं देता और रात्रि अँधेरी रहती है।

आदर होता है (जैसे) भला (ग्रह तो) भला (अच्छा, शुभ) कहके छोड़ दिया जाता है (परन्तु) खोटे (कुटिल, टेढ़े, अशुभ) ग्रह के लिए जप (मंत्रजाप, पूजापाठ इत्यादि जिससे ग्रह का प्रभाव कम पड़े और) दान (दान-पुन्य जिससे कष्ट निवारण हो) किया जाता है।

अलङ्कारः—दृष्टांत।

कहै यहै श्रुति[1] सुम्रत्यों[2] यहै सयाने[3] लोग।
तीन दबावत निसकहीं[4] पातक[5] राजा रोग ॥१९०॥

अर्थः—श्रुति-स्मृति भी यही (बात) कहती हैं (और) सयाने लोग (भी) यही कहते हैं (कि) तीन (व्यक्ति)—पाप, राजा (और) रोग—निर्बलही को दबाते हैं (सताते हैं, दुख पहुँचाते हैं) [यह तीनों निर्बलही को सताते हैं अर्थात् सबल को नहीं—प्रबल पुन्य-वाले को पाप, प्रबल शस्त्र धन इत्यादिवाले को राजा और प्रबल स्वास्थ्यवाले को रोग कभी कष्ट नहीं देते—एक लोकोक्ति भी है

१—श्रुति = वेद (जो सुना गया हो, ईश्वरवाक्य जो प्राचीन ऋषियों ने ध्यान में सुना था। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद)

२—स्मृति = मनु, पराशर आदि की स्मृतियां, धर्मशास्त्र, (ऋषियों द्वारा स्मरण किया हुआ)

३—सयान = स + ज्ञान = ज्ञानी (सयाने लोग), चतुर (सखी सयानी), जिसकी लड़कपन की अवस्था बीत गई हो, वा प्रौढ़ (वह अब सयाना हो गया होगा) इत्यादि।

४—नि + सक = निर्बल, (सक = शक्ति, कहीं कहीं बोलते भी हैं "सक भर उठा नहीं रखेंगे"—इसी शब्द से सकना = शक्ति रखना निकला है)

५—पातक = (पतन करानेवाला) पाप।

कि अबरैं (अबर अर्थात् निर्बल को) उनचासों बयारि (लगती है)
अर्थात् हर एक हवा हानि पहुँचाती है]

अलङ्कार—प्रमाण

नर की अरु नल नीर को गति एकै करि जोइ[1] ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै तेतौ ऊँचौ होइ ॥१९१॥

अर्थः—मनुष्य की और फव्वारे के पानी की चाल (बहाव, व्यवस्था, दशा) एक ही करके (एक समान) देखो (मानो, समझो) जितना ही नीचा होकर चलता है (मनुष्य जितना ही नम्रता से रहता है और फव्वारा जितना ही नीचे से आता है) उतना (ही) ऊँचा होता है (मनुष्य श्रेष्ठपद पाता है और फव्वारा ऊँचाई तक जाता है)

अलङ्कारः—दीपक (नर और नलनीर का एक धर्म उत्तरार्द्ध)

जौ चाहत[2] चटक[3] न घटै मैलौ होइ न मित्त* ।
रज[4] राजसु[5] न छुवाइ तौ[6] नेह चीकनौं चित्त ॥१९२॥

१—जोइ = जोय = देखो । दे० दो० सं० ४ ।

२—पा० चाहौ, चाहै ।

३—चटक = चमक वा स्फूर्ति ("मुख चटकीली जोति", तुमको चटक नहीं आता)

*मित्र शब्द को संबोधन करके भी इस दोहे का बड़ा अच्छा अर्थ हो सकता है "हे मित्र यदि चाहते हो कि तुम्हारा हृदय मैला न हो और उसकी चमक बनी रहे तो (ईश्वर वा धर्म के) स्नेह से चिकनाये हुए उस हृदय में रजोगुण मत छुआओ, (अर्थात् हृदय शुद्धि के लिए सतोगुण ही की आवश्यकता है" यह अर्थ ऊपर नहीं लिखा गया इसलिए कि इसमें 'नेह' का अर्थ स्पष्ट नहीं है ।

४—रज = (रंगना अर्थक रंज से) धूल ।

५—राजसु = १ हुकूमत, शासन, २ अहङ्कार, क्रोध इत्यादि (रजोगुण) ।

६—पा० छुवाइये ।

अर्थः—यदि तू चाहता है कि (तेरा) मित्र मैला न हो (और मित्रता की) चमक कम न हो (अर्थात् उज्ज्वल पवित्र प्रेम बना रहे तो) स्नेह से चिकनाये हुए चित्त में राजस की धूल न छुआ (अर्थात् जब मित्र के चित्त में स्नेह का तेल डाल दिया तो उस पर राजस रज के डालने से वह अति मैला हो जायगा, धूल बैठ जायगी। राजस उज्ज्वलता और चिकनापन दोनों को बिगाड़ देगा)

अलङ्कारः—रूपक।

अरे परेखौ[1] को करैं, तुंहीं बिलोकि बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियै खरैं बढ़ैं परिपारि[2] ॥१९३॥

अर्थः—अरे (मित्र अथवा मन) परेखा कौन करे (कौन देखता वा जाँच करता फिरे) तू ही विचार कर देख (कि) खरैं (अधिक) बढ़ने पर किस मनुष्य (और) किस ताल से मर्यादा रखी जाती है (अर्थात् ताल में बाढ़ आने से उसकी मर्यादा अर्थात् पाढ़ टूट जाती है और अधिक संपत्तिवान् होने पर मनुष्य की मर्यादा अर्थात् नम्रता और सहनशीलता इत्यादि टूट जाती है)।

अलङ्कारः—काकुवक्रोक्ति।

अति अगाधु[3] अति औथरौ[4] नदी कूपु सरु बाइ[5]।
सो ताकौ सागरु जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ॥१९४॥

१—परेखा = देखना, परीक्षा।
२—परिपारि=मर्यादा, हद, घेरा, किनारा।
३—अगाध = अथाह (अ + ग + अध)।
४—औथर = (उथल, उत + स्थल) छिछला।
५—बाइ = बापी, बावली, तलैया।

अर्थः—नदी, कुआं, ताल, तलैया बहुत गहरे (अथवा) बहुत छिछले (हां, वा संसार में हैं किन्तु) जहां जिसकी प्यास बुझे (जहां जिसकी अभिलाषा पूरी हो) वही उसके लिए समुद्र है (अर्थात् जिसका जिससे काम बने उसके लिए वही सब कुछ है)

अलङ्कारः—अन्योक्ति, अनुप्रास।

सोहतु संगु[1] समान सौं[2] यहै कहै सबु लोगु।
पान पीक ओठनु बनै काजर नैननु जोगु ॥१९५॥

अर्थः—(किसी मनुष्य वा वस्तु का) साथ (उसके) समान (मनुष्य वा वस्तु के मिलने) से सुशोभित होता है। यही सब लोग कहते हैं (जैसे) पान की (लाल) पीक का (लाल रङ्गवाले) ओठों से (और काले) काजल का (काली) आँखों से जोग बनता है (संयोग ठीक होता है—इन्हीं का संग शोभा देता है)

अलङ्कारः—सम, अनुप्रास।

को कहि सकै बड़ेनु सौं लखैं बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की* इन डारनु वे† फूल ॥१९६॥

१—पा० अंग।

२—पा० को।

* पा० को।

†"इन डारनु वे फूल" (कौन से फूल ?) से अनुमान होता है कि ग्रीष्म ऋतु की (इन) सूखी कँटीली डालियों को देख कर बसंत में खिले हुए (वे) फूल स्मरण हुए हैं—यदि 'इन डारन ये फूल' पाठ रक्खा जाय तो अर्थ स्पष्ट है

अर्थः—(उनकी) बड़ी भूल देखकर भी बड़ों (उच्च पद-प्राप्त जनों) से कौन कह सकता है (कि यह आपकी भूल है—देखो ब्रह्मा से कोई नहीं कहता यद्यपि उस) ब्रह्मा (दई) ने (वास्तव में कितनी बड़ी भूल की है कि) गुलाब की इन (कँटीली) डालियों में वैसे (सुंदर सुगन्धित) फूल दिये।

अलङ्कारः—अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास।

> समै समै* सुन्दर सबै रूपु कुरूपु न कोइ।
> मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ ॥१९७॥

अर्थः—(यदि सत्य पूछिए तो) कोई रूप कुरूप नहीं है समय समय पर सब ही (वस्तु) सुन्दर है (अपने अपने अवसर पर तथा मनुष्य की रुचि के अनुसार प्रत्येक वस्तु अच्छी और सुन्दर हो जाती है अर्थात् कोई पदार्थ स्वयं सुन्दर वा असुन्दर नहीं है—एक ही वस्तु कभी किसी के लिए अच्छी कभी किसी के लिए बुरी होती है) (वास्तव में मनुष्य के) मन की रुचि (चाह, इच्छा, प्रेम, प्रीति) जिस ओर जितनी होती है उस ओर उतनी रुचि (शोभा, सुन्दरता) हो जाती है (मालूम होने लगती है) [सूरदास लिखते हैं—

> "ऊधो मनमाने की बात,
> ... ...
> सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात।"]

अलङ्कारः—परिसंख्या, अनुप्रास, यमक।

---

*समय समय की बात और प्रिय तथा इच्छित वस्तु का कैसा सुन्दर उदाहरण नीचे के दोहे में है—

"मरतु प्यास पिंजरा परचो सुआ समै कैं फेर।
आदर दै दै बोलियतु बाइसु बलि की बेर॥" ऐसा समय का फेर है।

मैं समुझ्यौ निरधार[1] यह जगु काँचो काँच[2] सौं।
एकै* रूपु अपार प्रतिविम्बित[3] लखियतु जहाँ ॥१९८॥

अर्थः—मैंने निश्चित रूप से समझ लिया है (कि) यह काँच (अर्थात् कच्चा, अस्थायी, असत्य) संसार काँच (शीशा, दर्पण) सदृश है जिसमें एकही (ईश्वर का) रूप असंख्य (रूप से) प्रतिविम्बित दिखलाई देता है (अर्थात् संसार के सभी पदार्थ उसी एक परब्रह्म की परछांईं समान हैं—वह सर्वव्यापी है)

अर्थः—उपमा (जग की काँच से), प्रमाण।

को छूट्यौ इहिं जाल† परि कत कुरङ्ग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत त्यौं त्यौं उरझत जात॥१९९॥

१—निरधार—निश्चय।

२—कांच = शीशा।

*कहा भी है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" तथा "जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके। ज्वालामाला कुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्"। गोसाईंजी ने भी कहा है:—

"सिया राम मय सब जग जानी"

मीरदर्द लिखते हैं—

"जग में आकर इधर उधर देखा
तूही आया नज़र जिधर देखा"

३—प्रति + विम्ब = परछांहीं, (विम्ब = चमक, उसका प्रतिरूप जो दर्पण इत्यादि में से प्रकट होता है)।

†यह जाल कौन सा है? (१) कोई मनुष्य किसी विपत्ति में पड़ा है उसको धीरज देने के लिए यह कहा है, जिससे वह अकुलाय नहीं (२) यह जाल कदाचित् वही "तियछवि" है जो दो० सं० २०१ में वर्णित है (३) कुरङ्ग का अर्थ (कु + रङ्ग) बुरे रङ्गवाला, बुरी रुचि का मनुष्य भी हो सकता है। ऐसे मनुष्य की रुचि ही यह जाल है—तृष्णा महाजाल सुलझाने से नहीं सुलझ सकता। यह वैराग्य का दोहा जान पड़ता है।

४—उरझना = उलझना = फँसना, इसका उलटा है सुरझना।

अर्थः—हे हरिण (तू) क्यों छटपटा रहा है (तेरा व्याकुल होना व्यर्थ है, क्योंकि) इस जाल में पड़कर कौन छूटा? (अर्थात् सभी फँसते गये—यहाँ तो यह दशा है कि) ज्यों ज्यों सुलझ कर फंदों को सुलझा कर) भागना चाहता है त्यों त्यों (और) फँसता जाता है। [कबीरदासजी ने कहा है—

"यह संसार काँटे की वाड़ी उलझ पुलझ मर जाना है"]

अलङ्कारः—अन्योक्ति, श्लेष (कुरंग)।

कनक कनक* तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाऐँ बौराइ इहिं पाऐं हीं बौराइ ॥२००॥

अर्थः—कनक (सोना, धन) कनक (धतूर एक विषैला फल) से मादकता (नशा लाने) में सौगुना अधिक हो जाता है (रुपये का नशा बहुत ही प्रबल होता है—देखो) उसको (धतूर को तो) खाने से (आदमी) बौराता है (नशे से पागल हो जाता है) (परन्तु) इसको (सुवर्ण को) पाने ही से बौरा जाता है (मदांध हो जाता है, उचित अनुचित का विचार छोड़ देता है)।

अलङ्कारः—काव्यलिंग (मादकता सुवर्ण में अधिक है इसका समर्थन उत्तरार्ध से है), यमक।

या भव पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय छवि छायाग्राहिनी[1] ग्रहै बीचहीं आइ ॥२०१॥

---

* संस्कृत का एक श्लोक है—

"सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः।
नामसाम्यादहो यस्य धुस्तूरोऽपि मदप्रदः" ॥

कबीरदास लिखते हैं "इक कञ्चन अरु कामिनी दुर्गम घाटी दोय।"

1 छाया पकड़नेवाली = सिंहिका, यह एक राक्षसी थी जो समुद्र में रहती थी और ऊपर उड़ते हुए पक्षियों की छाया पकड़ लेती थी। फिर वह

अर्थः—इस भवसागर को लाँघ कर (इस पार से उस पार कूद कर) कौन पार जा सकता है? (अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि) स्त्री की छविरूपी सिंहिका आकर बीच ही में पकड़ लेती है (अर्थात् काम को जीत लेना अति कठिन है और उसके बिना मनुष्य संसार पार नहीं हो सकता) [किन्तु कवि ने एक उपाय छोड़ रक्खा है—यदि कोई महावीरजी के सदृश ब्रह्मचारी और पराक्रमी हो और ईश्वर का नाम लेकर तत्पर हो तो वह पार हो सकता है]

अलङ्कारः—रूपक।

जम करि मुँह तरहरि[1] पर्‌यौ इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय[2] तृषा परिहरि अजौं नरहरि[3] के गुन गाउ ॥२०२॥

पक्षी उड़ नहीं सकते थे। समुद्र में गिर जाने पर वह उनको खा जाती थी। जब हनुमानजी सीताजी को ढूँढ़ने लङ्का जाने लगे तो इस राक्षसी ने (इसे राहु की माता भी कहते हैं) उनको भी उसी प्रकार आकर्षित किया। परन्तु वे उसे मारकर समुद्र उसपार चले गये—तुलसीदास ने सुन्दरकांड में इसका वर्णन किया है। "निशिचर एक सिन्धु महँ रहई...वारिधि पार गयउ हनुमाना"

१—तरहरि = नीचे।

२—विषय = संसार के पदार्थ जिनमें लग जाने से मनुष्य ईश्वर को भूलता है—नाना प्रकार के भोग-विलास इत्यादि। (वि + सि = बाँधना) इन्द्रियों को आकर्षित करनेवाला।

३—नरहरि = (नर + सिंह) नृसिंह अथवा विहारीलाल के दीक्षागुरु नरहरिदास। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने गुरु नरहरिदास की वन्दना द्व्यर्थक शब्दों में की है—"वन्दौं गुरु पदकञ्ज, कृपासिन्धु नररूपहरि"

अर्थः—यमरूपी करि (हाथी) के मुख के नीचे (तू) पड़ा है इस निश्चय (अटल सिद्धांत वा विश्वास) पर चित्त लगा (ऐसा निश्चय कर, ठीक समझ—अथवा ऐसा धरि अर्थात् समझ कर हरि अर्थात् ईश्वर में मन लगा—और) अब भी विषय की प्यास (इच्छा) छोड़कर नृसिंह भगवान् (वा गुरु नरहरिदास) के गुण गा (नरसिंह ही तुझे इस हाथी के मुख से निकालेंगे)

अलङ्कार—रूपक, श्लेष

जगतु जनायौ जिहिं सकलु सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै आँखि न देखी जाँहि ॥२०३॥

अर्थः—जिससे सारा संसार जाना गया (जिस चिन्मय ब्रह्म के द्वारा इस समस्त संसार का ज्ञान हुआ अर्थात् जिसने यह सब जगत् जनाया) उस हरि (परमात्मा) को (तूने) नहीं जाना (यह वैसा ही है) जैसे आँखों से सब (पदार्थ देखा जाता है) (किन्तु स्वयं) आँखें नहीं देखी जातीं।

अलङ्कारः—उदाहरण, अनुप्रास।

भजन कह्यौ तातैं भज्यौ भज्यौ न एकौ वार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ सो तैं भज्यौ गँवार[1] ॥२०४॥

अर्थः—रे गँवार (मूर्ख, बेसमझ) (जिसका) भजन करने को कहा (जिस परमात्मा को भजने की आज्ञा धर्मशास्त्रों ने की थी) उससे (तो तू) भाग गया (उसको) एक बार भी न भजा (भजन किया) (उलटा इसके) जिससे दूर भागने के लिए कहा (विषय भोग, माया इत्यादि) उसको तूने भजा (स्मरण किया, उसमें लीन रहा, उसका भोग किया)।

अलङ्कारः—यमक।

१—गँवार = मूढ़, मूर्ख, बेसमझ (गँवई का, जो नागर न हो)।

ब्रजवासिनु कौ उचित धनु जो धन रुचित न कोइ* ।
सु चित न आयौ सुचितई कहौ कहाँ तैं होइ ॥२०५॥

अर्थः—ब्रजवासियों का जो उचित धन है (जिसके उपार्जन वा संचित करने के लिए उनको उद्योग करना चाहिए अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण वा उनकी भक्ति), जो रुचित नहीं (है) कोई ही कोई धन (धन्य, धन्य पुरुष, धन्य भागी अर्थात् महा अभागी) को, सो (वह धन तेरे) चित न आया (ऐसे तो तुम धन्य भागी अर्थात् अभागे हो तो भला) कहो सुचितई (चित्त की शांति) कहाँ से हो ।

अलङ्कारः—पर्यायोक्ति, यमक, व्याजनिंदा (धन) ।

तौ लगु या मन सदन मैं हरि आवैं किहिं बाट ।
विकट[1] जटे जौ लगु निपट खुटैं[2] न कपट कपाट ॥२०६॥

अर्थः—जब तक निपट (अत्यंत) विकट (कठिन अर्थात् दृढ़) जड़े हुए कपट के किवाड़ न खुलें तब तक इस मनरूपी घर में (कहो) परमेश्वर किस रास्ते से आवें ।

अलङ्कारः—रूपक, पर्यायोक्ति, अनुप्रास ।

---

*'धन रुचित न कोइ' इस वाक्यांश के अनेक पाठान्तर हैं—लाला भगवानदीन ने 'घनरुचि तन कोय' (=बादल जैसा शरीर है जिसका) लिखा है, किन्तु रत्नाकरजी का पाठ अधिक शुद्ध प्रतीत होता है ।

१—(वि + कट = आकृति, गति इ०)

२—खुटैं, खुटना = खुलना (खुट् धातु से) । पा० छुटैं, खुलैं

दूरि भजत प्रभु पीठि दै[1] गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि* चंग रंग भूपाल† ॥२०७॥

अर्थः—भूपाल (संसार का पालन करनेवाला, परमेश्वर) पतंग-समान (है)—गुन विस्तार करने के समय (जैसे जैसे हाथ में से डोरी निकालते जाइए एवं जैसे जैसे अपना गुण वर्णन करते जाइए वा सगुण रूप परमेश्वर का गुणगान करते जाइए तैसे तैसे) प्रभु पीठ देकर दूर भागते जाते हैं (पर) निर्गुन (विना डोरी की पतंग जो हाथ ही में रहेगी एवं जो लोग अपने गुणों को समेट कर रख लिये हैं और बढ़ाते अर्थात् कहते नहीं फिरते उनके, अथवा ब्रह्म निर्गुण रूप से) निकटवर्ती होकर प्रकट होते हैं।

अलङ्कारः—उपमा (भूपाल की चंग से), श्लेष (गुन = १ गुण २ डोरी), अनुप्रास।

जपमाला‡ छापैं§ तिलक सरै[2] न एकौ कामु।
मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे रामु[3] ॥२०८॥

१—पीठ देकर—उड़ती हुई पतंग सदा पीठ उड़ानेवाले की ओर करके उड़ती है—भागनेवाला मनुष्य भी पीठ पीछे ही करके भागता है।

* पा० ही, ह्वै।

† पा० गोपाल।

‡ कबीरदास कहते हैं—

"माला फेरत युग गया पाय न मन का फेर।
कर का मनका छाड़ के मन का मनका फेर" ॥

§ पा० छापा।

२—काम सरना = काम चलना, काम बनना वा निकलना, दे० दो० सं० १८५।

३—रामु = जिसमें योगी लोग रमण करें, जो विश्व भर में रमण करता है, विष्णु के अवतार, कोशलेश दशरथ के पुत्र। पा० स्याम।

अर्थः—जपमाला (जाप करने की माला, हाथ की माला) छाप (चंदन इत्यादि की मुद्रा) तिलक से एक भी काम नहीं चलता (कुछ लाभ नहीं होता) कच्चे मनवाला (जिसके हृदय में दृढ़ भक्ति नहीं है) व्यर्थ (बिना लाभ का) नाचता है (सब पूजा-पाठ का ढोंग फैलाता है)। राम (परमात्मा तो) सच्चे ही से (न कि ऊपरी आडम्बर से) रंजित (प्रसन्न) होता है (अर्थात् ईश्वर केवल सच्ची निष्कपट दृढ़ भक्ति चाहता है)

अलङ्कारः—परिसंख्या, अनुप्रास।

यह बरिया[1] नहिं और* की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि ॥२०९॥

अर्थः—यह समय (किसी) और का नहीं (है अर्थात् यह भवसागर तरने के लिए अथवा इस कलियुग में अन्य उपाय निष्फल हैं) तू वह करिया (१ कर, कर्ण, पतवारवाला अर्थात् कर्णधार, पतधारी २ करिया, श्यामवर्ण रामचन्द्र) सोध (उसकी सुधि कर, याद कर, खोजकर, जिसने पत्थर की नौका पर चढ़ा कर (अनेक भालु बंदरों को) समुद्रपार कर दिया (अर्थात् जो रामचन्द्र समय पड़ने पर जल पर भी पत्थर तैरा कर बंदरों इत्यादि तक को पार उतारे उन्हीं को स्मरण कर।

अलङ्कारः—पर्यायोक्ति, श्लेष।

१—बरिया = (वार से) बारी, वेला, अवसर, समय। पा० बिरिया = बेरा, वेला, समय।

* तुलसीदास भी कहते हैं—

नहिं कलि कर्म न भक्ति बिबेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

लट्टुवा लौं प्रभु कर गहैं निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी करतें छुटैं निगुनीयै ह्वै जाइ ॥२१०॥

अर्थः—लट्टू के समान प्रभु (परमात्मा, स्वामी) के हाथ में पकड़ने पर निगुनी (१ गुणहीन मनुष्य २ विना डोरी का लट्टू) गुन (१ गुण २ डोरी) से लिपट जाता है (मनुष्य गुणवान् हो जाता है; लट्टू में डोरी लग जाती है, परंतु फिर) वही गुनी (गुन-वाला १ ईश्वर २ डोरीवाला) के हाथ से छुटने पर (१ ईश्वर से अलग होकर संसार के मायाजाल में भ्रमण करने पर, २ हाथ से फेंक देने पर) निगुनी ही हो जाता है (अर्थात् जिस पर ईश्वर की कृपा* है वह गुणहीन भी गुणवान् हो जायगा)

अलङ्कारः—उपमा (निगुनी की लट्टू से), श्लेष।

जाकैं एकाएक हूँ जग व्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ[1] फूलै फरै आकु† डहडहो[2] होइ ॥२११॥

अर्थः—(निराश्रय व्यक्तियों पर ईश्वर की विशेष कृपा का उदाहरण देखो कि) जिस (मदार) के लिए अकेले भी कोई (मनुष्य, अर्थात् एक भी) व्यवसायी (उद्योग करनेवाला, सींचने-वाला, रक्षा करनेवाला) नहीं (है) वह (असहाय) मदार ग्रीष्म में

---

*तुलसीदास लिखते हैं—मूक होहिं बाचाल पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सु दयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन।

१—निदाघ = ग्रीष्म, दे० दो० सं० १९७।

†कहावत प्रसिद्ध है "अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।"

२—डहडहो = हरा-भरा।

(बिना किसी के पानी दिये ही केवल ईश्वर की कृपा से) हरा-भरा होकर फूलता फलता है।

अलङ्कारः—अन्योक्ति।

अपनैं अपनैं मत लगे वादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइवौ एकै*नन्दकिसोरु॥२१२॥

अर्थः—अपने अपने मत (जैसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा शैव शाक्त इत्यादि) में लगे (के लिए अर्थात् समर्थन करने के लिए) व्यर्थ शोर मचाते हैं (भिन्न-भिन्न मतवाले व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करते हैं, क्योंकि वास्तव में) सबको जिस जिस तरह से (हो) एक ही नन्दकिशोर (नन्द के पुत्र, श्रीकृष्ण, ईश्वर) की सेवा करनी है। (अर्थात् चाहे जिसकी पूजा करो और जिस तरह से करो सब पूजा ईश्वर ही की होती है)।

अलङ्कारः—प्रमाण।

कोऊ कोरिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो संपति† जदुपति सदा बिपति बिदारनहार॥२१३॥

अर्थः—(चाहे) कोई (धन का लोभी) करोड़ (की संपति) संग्रह करे (चाहे) कोई लाख (वा) हज़ार (वा हजार लाख अर्थात् दस करोड़ की), मेरी संपति (तो) सदा विपत्ति नाश करनेवाले यदुपति (यदुवंशियों के स्वामी श्रीकृष्ण) हैं (विपत्ति को दूर करने-वाली वास्तविक संपत्ति यही है। मुझे धतूरे से भी दसगुनी माद-

---

*"सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति"।

†तुलसीदास लिखते हैं—औरन के धन-धाम सदा तुलसी घर राम के नाम खजाना।

कता उत्पन्न करनेवाला कनक नहीं चाहिए दे० दो० सं०, २००। मैं "अवगुन भरी" संपति नहीं चाहता।

"तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय,
जो पति संपति हू बिना जदुपति राखे जाय।")

["मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै
... ...
सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावैं" सूरदास]

अलङ्कारः—हेतु, अनुप्रास।

थोरैं ही गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह[1] मनौ भए आज कालिह के दानि ॥२१४॥

अर्थः—हे कान्ह (कन्हैया, श्रीकृष्ण, तुम तो) थोड़े ही गुण से रीझते थे (भक्त पर प्रसन्न हो जाते थे) वह (अपनी) बानि (आदत, स्वभाव अब तुम) भूल गये (छोड़ दिये) मानों तुम भी (अब) आज-कल के दानी (सदृश कृपण) हो गये [समय के परिवर्तन तथा संसार के प्रभाव से अपना स्वभाव छोड़ देने का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन बिहारीलाल ने निम्नलिखित दोहे में किया हैः—

"समैं पलटि पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल,
भो अकरुण करुणाकरौ यहि कपूत कलिकाल।"

विचार कीजिए स्वयं सृष्टिकर्ता पर उसी की सृष्टि के एक अत्यन्त लघु खण्ड का प्रभाव पड़ रहा है—ऐसा प्रचण्ड कलि-युग है—किन्तु खेद तो यह है कि ईश्वर भले ही बदल कर बुरा हो जाय परन्तु दुष्ट जन कभी भले नहीं हो सकते। दे० दो० सं० १८८]

अलङ्कारः—वस्तूत्प्रेक्षा (तुम आज कालि के दानि प्रतीत होने लगे)

1—कान्ह = कृष्ण (प्राकृत में कन्ह, कान्ह)

कब कौ टेरतु दीन रट[1] होत न स्याम सहाइ।
तुम हूँ लागी जगत गुरु[2] जग नाइक जगबाइ ॥२०५॥

अर्थः—हे श्याम (श्रीकृष्ण) कब का (कब से, बहुत देर से) दीनरट से (दीनता से भरी हुई पुकार से मैं तुम्हें) टेरता हूँ (पुकार रहा हूँ) (तिस पर भी तुम) सहायक नहीं होते (मेरी प्रार्थना नहीं सुनते)। हे जगत् के गुरु, संसार के स्वामी (मुझे तो ऐसा जान पड़ने लगा कि) तुमको भी संसार की हवा लग गई (आज-कल के समय का प्रभाव—कृपणता, दीनों की पुकार न सुनना इत्यादि—तुम पर भी पड़ गया।)

अलङ्कारः—लोकोक्ति, गम्योत्प्रेक्षा (तुम भी मानो जग-वायु लगे हुए राजा हो गये—मानो लुप्त), अनुप्रास।

बंधु भए का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ।
तूठे[3] तूठे फिरत हौ झूठे बिरद[4] कहाइ* ॥२१६॥

१—पा० रत, ह्वै।

२—जगतगुरु, इस शब्द के प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि हे कृष्ण तुम तो संसार के गुरु हो तुमको इसका अंधकार दूर करके इस पर अपना प्रकाशमान प्रभाव डालना चाहिए। तो तुम उलटे ही इसी के प्रभाव में पड़ गये। इसी प्रकार जगनायक का प्रयोग है अर्थात् तुम संसार के मालिक हो। इस संसाररूपी प्रजा को ठीक मार्ग पर ले चलो न कि इसी के पीछे तुम भी चलने लगो।

३—तूठ (तुष्ट) = प्रसन्न।

४—बिरद = बड़ाई, प्रशंसात्मक वचन, दे० दो० सं० १८१।

* पा० बुलाइ।

अर्थः—हे रघुराई (श्रीरामचन्द्र), (कहो तो तुम) किस दीन (जन) के बन्धु हुए (जो दीनबन्धु कहलाये जा रहे हो) (और) किस (पतित जन) को तारे (मुक्त किये) (जो पतिततारण के नाम से प्रसिद्ध हो) (मेरा तो ऐसा विचार है कि जब तक मुझ दीन तथा महापतित के बन्धु और तारक न बनो तब तक तो तुम) झूठी प्रशंसा कहलाकर प्रसन्न हुए फिरते हो (क्योंकि वास्तव में दीन अथवा पतित मैं हूँ—जिनको तुमने अब तक तारा है वे सब मुझसे अधिक पुण्यात्मा थे)

अलङ्कारः—काकुवक्रोक्ति, वीप्सा

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि[1] ।
बीधे मोसौं आइ[2] कै गीधे गीधहिं तारि ॥२१७॥

अर्थः—हे मुरारि अब देखना है (कि आपकी बड़ाई कैसे रहती है) (अर्थात् पतिततारण का नाम आप कैसे निबाहते हैं), गीध (जटायु) को तार कर गीधे (परचे हुए) मुझसे आकर बीधे (फँसे, उलझे) हो (अर्थात् एक गीध को तार दिये तो तारनेवाले बन गये—अब मुझसे काम पड़ा है देखें यह बड़ाई कैसे चलती है) ["हरि हौं सब पतितन पतितेस......" सूरदास]

अलङ्कारः—अनुप्रास, यमक ।

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होउँगौ हौं हरि अपनी चाल ।
हठु न करौ अति कठिनु है मो तारिबौ गुपाल ॥२१८॥

अर्थः—हे हरि (श्रीकृष्ण) मैं अपनी चाल से जैसा हूँगा वैसा (तो) हूँगा (ही) (अर्थात् मेरे नीच कर्मों का फल जो कुछ

१—मुरारि = कृष्ण (मुर + अरि, मुर नामक राक्षस का शत्रु, कृष्ण)
२—पा० आन ।

भोगना होगा सो मैं भोग ही लूँगा तुम मेरे तारने के लिए परिश्रम करके कष्ट मत उठाओ क्योंकि एक तो मुझ जैसे पापी के तारने में तुम्हें अति कष्ट होगा, इसलिए मुझे तारने का) हठ न करो, (दूसरे कदाचित् तुम्हारे परिश्रम करने पर भी मैं न तर सकूँ, क्योंकि) हे गोपाल मेरा तारना अति कठिन है।

["मो कों मुक्त विचारत हो प्रभु, पूँछत पहर घरी,
स्रम ते तुम्हें पसीना ऐहै कत यह जतनि करी" सूरदास]

अलंकारः—सम (कारण चाल के अनुसार कार्य फल भोग)

करौ कुवत[1] जगु कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय* बसत त्रिभंगी[2] लाल ॥२१९॥

अर्थः—हे दीनदयाल मैं अपनी कुटिलता (टेढ़ापन, बुराई) न छोड़ूँगा (चाहे) संसार (मेरी) निन्दा किया करे (अर्थात् संसार के कुटिल कहने से मैं नहीं भागता) (मुझे तो यह शङ्का है कि यदि कुटिलता छोड़कर सीधा हो जाऊँ तो) हे त्रिभङ्गीलाल (तीन जगह से टेढ़े श्रीकृष्ण) (मेरे) सरल हृदय में बसते तुम दुखी होगे (अर्थात् सीधे हृदय में बसने पर तुम्हें कष्ट होगा क्योंकि सीधी वस्तु में टेढ़ी वस्तु ठीक नहीं समा सकती) [दीन-दयाल कहने का प्रयोजन यह है कि मैं पापी होने से अधिक दीन होता जाऊँगा—और तुम दीनों पर दया रखते हो मुझ पर भी रखोहीगे।]

अलंकारः—सम (पहला), काव्यलिंग (कुटिलता न तजूँगा, इसका समर्थन उत्तरार्ध से है)

१—कुवत = (कु + वत) कुवार्ता, बुरी बात, बुराई, निंदा।

* पा० चित।

२—त्रिभंगी = तीन जगह से टेढ़ा। चरण, कटि और ग्रीवा को तिर्छा करके खड़े होने से त्रिभंगी होता है।

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज ।
अपनैं अपनैं बिरद[1] की दुहूँ निबाहन लाज ॥२२०॥

अर्थः—हे जदुराज (यदुवंशियों के स्वामी) मुझसे तुमसे बहस बढ़ गई (तकरार हो गई, अब देखना है) कौन जीतता है (हम) दोनों ही को अपने अपने विरद की लाज निवाहनी है (अर्थात् मेरा नाम है पतित मैं इस नाम की लाज रखूँगा—पतित होता तथा पाप करता चला चलूँगा—और आपका नाम है पतिततारन। आप भी इस नाम की लज्जा रखने के लिए मुझे तारने ही का उपाय करेंगे। बस इसी में देखना है—मैं पाप करने से थकता हूँ अथवा आप तारना कठिन समझ के अपना नाम छोड़ देते हैं) [राजा कहने का यह प्रयोजन है कि राजा लोग ऐसी भड़की में बहुधा आ जाया करते हैं] [सूरदास—"मोहिं प्रभु तुम सौं होड़ परी...अपने विरद सँभारहु गे तब या में सब निबरी" "अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें विरद बिनु करिहौं"]

अलंकारः—सम (पहला)

कीजै चित सोई तरे* जिहिं† पतितनु के साथ ।
मेरे गुन औगुन‡ गननु गनौ न गोपीनाथ ॥२२१॥

१—विरद = विरुद सं, दे० दो० सं० १८१, २१६,

* पा० तरौं ।

† पा० जिन ।

‡ गुण अवगुण की गणना होने पर कैसे काम चल सकता है । यहाँ तो कृपा की आशा है न कि कर्मफल-निर्णय की । कवि ने कहा भी है,

"तौ बलियै भलियै बनी नागर नंदकिसोर ।
जौं तुम नीकैं कै लख्यौ मो करनी की ओर ॥"

तुलसीदास ने भी भरतजी से कहलवाया है
"जो [illegible]नी [illegible]मुझै प्रभु मोरी, नहिं निस्तार कल्प शत कोरी"।

अर्थः—हे गोपीनाथ (श्रीकृष्ण) मेरे गुण-अवगुण-समूहों को मत गनिए (क्योंकि मैं तो पतितों में से हूँ। मेरे अवगुण तो अधिक हैंहीं। अतः) वही चित कीजिए (उसी पर ध्यान दीजिए) जिससे पतितों के समूह तरे हैं (अर्थात् पतितों को जिस बात पर तारा उसी बात का ध्यान मेरे साथ भी कीजिए) [गोपीनाथ इसलिए कहा कि गोपियों की सब बुराइयाँ भूलकर केवल उनकी भक्ति ही पर श्रीकृष्ण रीझे थे]

अलंकारः—काव्यलिङ्ग (मेरे गुण अवगुण गनो इसका समर्थन पूर्वाध से है), अनुप्रास।

मोहूँ दीजै मोषु ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधैं ही तोषु तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥२२२॥

अर्थः—(हे पतितोद्धारण) मुझे भी मोक्ष दीजिए जैसे बहुत से अधमों को दिया (और नहीं तो यदि) बाँधने ही में तोष (संतोष, प्रसन्नता) हो तो अपने गुणों से बाँधो (अर्थात् या तो बंधन से मुक्त कर दो या नहीं तो अपने गुणों के बंधन में रखो। अर्थात् मुझे अपने सगुणरूप का उपासक बनाओ जिससे मैं आपके गुणों ही में लगा रहूँ। बाँधने के साथ गुन का जिसका अर्थ डोरा भी होता है कैसा अच्छा प्रयोग किया है)।

अलंकारः—आक्षेप, श्लेष (बाँधना, गुन)

निज करनी सकुचेहिँ कत सकुचावत इहिँ चाल।
मोहूँ से नित* बिमुख त्यौं सनमुख रहि गोपाल ॥२२३॥

अर्थः—हे गोपाल (श्रीकृष्णजी) अपनी करनी (कर्मों) पर सकुचे हुए (मुझ लज्जित व्यक्ति को) इस चाल (कृपा वा स्नेह)

* पा० अति।

से मुझ ऐसे सदा विमुख रहनेवाले के सम्मुख रहकर (इस पापी पर कृपा करके) (और अधिक) क्यों लज्जित कर रहे हो।

अलंकारः—विषम (विमुख और सनमुख)।

हरि कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार ॥२२४॥

अर्थः—हे हरि (विष्णु भगवान, श्रीकृष्ण, परमात्मा) तुमसे सहस्रबार यही विनती की जाती है (अर्थात् मैं सदा यही चाहता हूँ कि) जिस तिस प्रकार (जैसे हो सके वैसेही तुम्हारे) दरबार में डला हुआ (फेंका हुआ, लुढ़कता पुढ़कता) पड़ा रहूँ। [सूरदास लिखते हैं "सूर कूर आँधरो मैं द्वार पर्‌यो गाऊँ"]

अलंकारः—लोकोक्ति, अनुप्रास।

राधा भव बाधा हरौ, विपति विदारहु स्याम।
सिया राम रति आपनी, देहु सुधा सुखधाम॥

परिशिष्ट १

व्रजभाषा

व्रजभाषा जिसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से है पश्चिमी हिन्दी (Western Hindi) की अंतर्गत भाषाओं में सबसे मुख्य, बढ़ी चढ़ी और मधुर है। यह इटावा, मथुरा, आगरा आदि में बोली जाती है। मुख्य स्थान इसका व्रजमंडल[१] है किंतु अन्य स्थानों में भी यह भाषा प्रचलित है। इसको अंतर्वेदी भी कहते हैं अर्थात् वह भाषा जो पवित्र स्थान[२] अर्थात् यज्ञभूमि में बोली जाय। राजपूताना में इसे पिंगल कहते हैं। आस-पास की भाषाओं के संसर्ग से भिन्न भिन्न स्थानों में इसको अनेक रूप से बोलते हैं। परन्तु शुद्ध व्रज-भाषा मथुरा की मानी जाती है[३]।

व्रजभाषा-भाषियों की संख्या लगभग ७८,६०,००० के है। इस भाषा का माधुर्य लोकप्रसिद्ध है (दे० पृ० २०) और हिन्दी के बड़े से बड़े कवियों ने इस भाषा में पद्यरचना करके पाठकों के निमित्त सर्वदा के लिए एक बड़ा माधुर्य-भंडार तैयार कर दिया

१—मथुरा वृंदावन इत्यादि जहाँ श्रीकृष्ण की लीलाएँ हुई थीं।

२—आर्य लोग समस्त भारतवर्ष को पवित्र स्थान कहा करते थे।

३—कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि मिथिला की भाषा जिसमें कविवर विद्यापति ने काव्यरचना की है, व्रजभाषा है। किंतु यह भूल है। जान पड़ता है कि उधर के वृज्जी कहलानेवाले कुछ निवासियों की बोल-चाल की भाषा के नाम के कारण यह भूल उत्पन्न हो गई है

है। हिन्दी का अधिकांश पद्य-काव्य इसी भाषा में है। सूरदास, बिहारीलाल, देवदत्त, मीराबाई इत्यादि सुप्रसिद्ध कवियों को इस भाषा से विशेष प्रीति थी।

इस भाषा की कुछ विशेषताएँ

(१) आकारांत पुँल्लिङ्ग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत और कभी कभी वर्तमान कृदंत ओकारांत होते हैं। जैसे झगड़ो, कैसो, साँवरो, ठाढ़ो, लख्यो इत्यादि। आ, ए, ओ, व, व और भी के स्थान में औ का प्रयोग होता है जैसे करनौ (करना), ऐसौ (ऐसे), करौ (करो), औलगि (अवलगि), औतार (अवतार), कनकौ (कनक भी) इ०। भी के स्थान में ऊ का भी प्रयोग करते हैं जैसे सोऊ (सो भी) ए के स्थान में इ और व के स्थान में ऊ भी बोलते हैं।

(२) शब्दों के रूप और विभक्तियाँ भी अपनी विशेषताएँ रखती हैं, घोड़ों के लिए घोड़ान वा घोड़न, आँसुओं के बदले अँसुअन इ० प्रयुक्त हैं। मैं के लिए मैं अथवा हौं, मुझको के लिए मोहिं अथवा मोकों (बहुवचन में हमहिँ, हमें, हमकौं) मुझसे के लिए मोसौं अथवा मोतें, उसका के लिए वाको, ताको, तासु इत्यादि का प्रयोग होता है। इसी प्रकार क्रिया में करता हूँ के लिए करत हौं अथवा करूँ हूँ (बहुवचन में करत हैं, अथवा करें हैं), करती हूँ के लिए करति हौं अथवा करूँ हूँ (बहुवचन में करति हैं, करें हैं) किया के लिए कियो, कीन्हों, करयो, देखूँगा के लिए देखूँगो, देखिहौं इत्यादि बोले जाते हैं। स्मरण रहे कि व्रज में शब्द के अंत में अनुस्वार वा अर्द्ध अनुस्वार अकसर बोलते हैं—ऐसे के लिए ऐसें, पढ़ना के लिए पढ़नों, परे के लिए परैं इत्यादि का प्रयोग होता है। और अन्तिम य को इ बोलते हैं जैसे (मोय), (मोइ) (जोय) जोइ। क्रिया के अंतिम अक्षर में ह्रस्व इ लगा देने से

के अथवा का का अर्थ भी निकलता है जैसे जानि (जान के वा जानकर)।

(३) कृदंत (participial forms) व्रज में वहुत प्रयोग होते हैं। प्राचीन उर्दू और हिन्दी में भी ऐसा प्रयोग होता था जैसे तड़पे है, आवे है,

(४) इस भाषा में स्वरों तथा अर्ध स्वरों का वाहुल्य है, इकार, उकार, ओकार, एकार सर्वत्र मिलते हैं। इससे भाषा में मधुरता अधिक आ जाती है। कड़े व्यञ्जन छूट जाते हैं, व्रज में ओकारांत और उकारांत शब्द वहुत ही अधिक संख्या में मिलते हैं, विशेषतः क्रिया के।

(५) ओकार और एकार ह्रस्व उच्चारण में उकार और इकार हो जाते हैं जैसे जो, सो का जु, सु; जेहि का जिहि, इ०।

(६) व्रज में व को वहुधा व अथवा म उच्चारण करते हैं जैसे विन का विन, वावन का वामन इ०।

(७) संस्कृत के उन शब्दों को जो उच्चारण में कड़े लगते हैं या युक्ताक्षर होते हैं व्रज में तोड़-मरोड़ के मधुर वना देते हैं जैसे अर्ध को अरध, युक्ति को जुगुति।

———

परिशिष्ट २

अलङ्कार

[पुस्तक में उल्लिखित अलंकारों की संक्षिप्त परिभाषाएँ। उदाहरण के लिए कोष्ठ में संख्याएँ दी गई हैं जो दोहों की संख्याएँ हैं। अलंकारों का क्रम वर्णानुसार है।]

अतद्गुण—इस अलंकार में एक वस्तु अपने समीपवर्त्ती वस्तु का गुण ग्रहण नहीं करती (१८४)।

अतिशयोक्ति—इस अलंकार में लोक-सीमा का उल्लंघन प्रधान रूप से दिखलाया जाता है और किसी की सराहना की जाती है। इसके कई भेद हैं।

रूपकातिशयोक्ति—जिसमें केवल उपमान ही का वर्णन हो (१०६)।

सापह्नवातिशयोक्ति—जिसमें एक का गुण दूसरे पर आरोपित किया जाय।

भेदकातिशयोक्ति—जिसमें अत्यन्त भेद दिखलाया जाय (१३४)।

सम्बन्धातिशयोक्ति—जिसमें असंबंध में संबंध दिखलाया जाय, योग्य को अयोग्य या अयोग्य को योग्य बनाया जाय (२०, २६)।

अक्रमातिशयोक्ति—जिसमें कारण और कार्य साथ ही हों (१३८)।

चपलातिशयोक्ति—जिसमें कारण के शीघ्र ही पीछे कार्य हो जाय (१३८)।

अत्यंतातिशयोक्ति—जिसमें कारण कार्य के अनंतर हो।

अनुप्रास—शब्दालंकार—इसमें व्यंजनों की समानता होती है। स्वरों की समानता आवश्यक नहीं है (दो० ६३, ८६ इ०)। इसके पांच भेद होते हैं। छेकानुप्रास—जिसमें एक या अधिक अक्षर एक ही बार दोहराये जायँ (दो० ६०, ११० इ०)। श्रुत्यानुप्रास—जिसमें एक ही स्थान जैसे कंठ इत्यादि से उच्चरित वर्णों की समानता हो (दो० १२०)। अन्त्यानुप्रास—जिसमें चरणों के अंताक्षरों की समानता होती है। लटानुप्रास—जिसमें शब्द और उसके अर्थ में कोई परिवर्तन न हो किन्तु अन्वय करने से अर्थ बदल जाय (दो० ६१)। वृत्यानुप्रास—जिसमें उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों के अनुकूल आदि वा अंत में एक वा अधिक वर्णों की समानता हो (दो० ३६)।

अनुमान—इसमें अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान प्रत्यक्ष वस्तु द्वारा किया जाता है। यह प्रमाण का एक भेद माना जाता है (६६, १२२)।

अनुज्ञा—इस अलंकार में दोष ही में गुण मान लिया जाता है (६५, ६७)।

अन्योक्ति—इसमें एक कथन का अर्थ अन्य वस्तु पर भी घटित होता है (१६७, १६८, १८० इ०)।

अपह्नुति—इस अलंकार में उपमेय का निषेध कर उपमान को स्थापित किया जाता है। इसमें किसी बात के छिपाने का वर्णन होता है (१६३)। इसके शुद्ध, हेतु (११६), भ्रांति (४६) इत्यादि छः भेद होते हैं।

अर्थान्तरन्यास—इसमें एक बात का फिर से सिद्धांत या दृष्टांत-द्वारा समर्थन किया जाता है (२६, १३२, १८१ इ०)।

अवज्ञा—इसमें एक वस्तु का दूसरी वस्तु के गुण या दोष न ग्रहण करने का वर्णन होता है (१४८)।

असंगति—इसमें कार्य और कारण में असंगति दिखलाई जाती है (४३, ८१, १०६)। इसके तीन भेद होते हैं।

आक्षेप—इसमें आरंभ ही में कोई बाधा इत्यादि उपस्थित कर दी जाती है (२२२)।

इसके कई भेद हो सकते हैं।

उत्प्रेक्षा—इसमें भेद-ज्ञान-पूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति कराई जाती है (दो० १६२, २१४)। उत्प्रेक्षा वाचक शब्द 'मानों' 'मनु', 'जानो' इत्यादि हैं।

उत्प्रेक्षा के पाँच भेद हैं—१ वस्तूत्प्रेक्षा, इसमें एक वस्तु दूसरी के तुल्य दिखलाई जाती है। यदि उत्प्रेक्षा का विषय कह दिया हो तो उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (दो० ७, २४, ४२, ४५, ४८, ४६, ५२, ५६, ११५) और नहीं तो अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (दो० ५२) अलंकार होता है।

२—हेतूत्प्रेक्षा—जो वस्तु जिस वस्तु का हेतु नहीं है उसको उसका हेतु मानना (दो० २६)। यदि उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध हो तो सिद्धविषया-हेतूत्प्रेक्षा (दो० २५, २७, ४०, ५६) और नहीं तो असिद्धविषया-हेतूत्प्रेक्षा (दो० ५) अलंकार होता है।

३—फलोत्प्रेक्षा—जो जिसका फल न हो उसको उसका फल मानना। यदि विषय सिद्ध हो तो सिद्धविषयाफलोत्प्रेक्षा नहीं तो असिद्धविषया, फलोत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

४—गम्योत्प्रेक्षा—जिसमें उत्प्रेक्षावाचक शब्द न हो।

५—सापह्नवोत्प्रेक्षा—जिसमें अपह्नुति सहित उत्प्रेक्षा की जाय।

उन्मीलित—इस अलंकार में समानता में किसी एक कारण से भेद प्रकट हो जाता है (१६, १८)।

उपमा—इसमें दो भिन्न वस्तुओं में समानता दिखलाई जाती है (८, ६१, १२७ ई०)। जिससे समता दी जाय उसको उपमान और जिसका वर्णन किया जा रहा हो उसको उपमेय कहते हैं। जिस बात में समानता दिखलाई जाय उसे साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द को वाचक कहते

हैं। उपमा दो प्रकार की होती है--पूर्णोपमा जिसमें ये चारों अंग वर्तमान हों और लुप्तोपमा जिसमें इनमें से एक, दो वा तीन लुप्त हों । एक लुप्त होने से धर्मलुप्ता (१४, १५ ई०) उपमानलुप्ता या वाचकलुप्ता तीन प्रकार की और दो लुप्त होने से वाचकधर्मलुप्ता (६६) इत्यादि चार प्रकार की उपमाएँ होती हैं।

उल्लास—इसमें एक वस्तु के गुण वा दोष से दूसरी वस्तु में गुण वा दोष का होना दिखलाया जाता है (३, २६, ११८)। इसके चार भेद हैं (१) गुण से गुण वा (२) दोष से दोष होना। (३) गुण से दोष, अथवा (४) दोष से गुण होना।

काकुवक्रोक्ति—दे० वक्रोक्ति।

कारक दीपक—इसमें अनेक क्रियाओं का एक ही कर्ता होता है (६६, ८०, ६७, १४१)।

काव्यलिंग—इसमें किसी कही हुई बात का युक्ति के साथ समर्थन किया जाता है (१, २, १२, ३८ इ०)।

क्रम—इसमें कुछ वस्तुओं का क्रमानुसार वर्णन होता है। यदि क्रम ठीक वैसा ही रहे जैसा वस्तुओं का तो यथाक्रम (१५३), विपरीत हो तो विपरीतक्रम और भंग हो तो भंगक्रम होता है।

तद्गुण—इस अलंकार में कोई वस्तु अपना गुण छोड़कर अपने समीपवर्ती का गुण ग्रहण कर लेती है (३, ८)।

तुल्योगिता—इसमें अनेक व्यक्तियों का एक ही धर्म कहा जाता है (५६)।

दीपक—इसमें उपमेय उपमान दोनों का एक ही धर्म कहा जाता है (१६१)।

दृष्टांत या उदाहरण—इसमें उपमेय और उपमान में एक प्रकार की समता रहती है और कोई वाचक शब्द नहीं होता (६०, ६३, १८२ इ०)।

परिकरांकुर—इसमें क्रिया से संबंध रखनेवाले विशेष्य का प्रयोग होता है (१४६, १६०)

परिसंख्या—इसमें किसी वस्तु वा गुण इत्यादि को और जगहों से हटा कर एक जगह में मानते हैं (५१)।

पर्यायोक्ति—दो प्रकार की होती है। (२) वचनचातुरी से कोई बात घुमा फिरा कर कही जाती है। (२) किसी अच्छे बहाने से वांछित कार्य की सिद्धि की जाती है (१६, ८८, ११२ इ०)।

पूर्वरूप—दो प्रकार का होता है। (१) कोई वस्तु अपने समीपवर्ती का गुण ग्रहण करके फिर छोड़ देती है और अपना पहला रूप धारण कर लेती है। (२) समीपवर्ती का गुण न लेने का कारण आ जाने से भी पहले का ग्रहण किया हुआ गुण दूर नहीं होता (१४)।

प्रतिवस्तूपमा—इसमें उपमेय उपमान के दो अलग अलग वाक्य होते हैं जिनका धर्म एक ही होता है (३३, १२६, १६६)।

प्रतीप—इस में उपमान ही को उपमेय के समान कहते हैं। उपमेय को उपमान के समान कहने की रीति उलट दी जाती है। अथवा उपमेय-द्वारा उपमान का तिरस्कार वर्णन करते हैं (१५१)। प्रतीप के पांच भेद होते हैं। प्रथम जिसमें उपमान को उपमेय के समान कहते हैं, द्वितीय जिसमें उपमान से उपमेय का अनादर हो. तृतीय जिसमें उपमान उपमेय से अनादर पाता हो, चतुर्थ जिसमें उपमान उपमेय के समता योग्य नहीं होता (१७, ३६), पंचम जिसमें उपमान को व्यर्थ ठहराया जाय।

प्रमाण—इसमें कोई सत्य कथन किया जाता है (१६८)। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण, शब्द प्रमाण, आत्म तुष्टि प्रमाण इ० आठ भेद हैं।

भ्रम या भ्रांति—इसमें किसी वस्तु को भ्रम के कारण कुछ और समझने का वर्णन होता है (५७, १२५ इ०)।

मीलित—इसमें इतनी समानता दिखलाई जाती है कि भिन्नता अर्थात् भेद स्पष्ट नहीं होता (१०)।

मुद्रा—इसमें पदों के साधारण अर्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ भी निकलता है (२८)।

यथाक्रम—दे० क्रम।

यमक—यह शब्दालंकार है। इसमें वही शब्द बार बार आता है किन्तु अर्थ में भेद हो जाता है (३८, ६४ इ०)।

युक्ति—इसमें कोई क्रिया करके किसी भेद या मर्म की बात को छिपाने का वर्णन होता है (८६)।

रूपक—इसमें उपमेय में भेदरहित उपमान का आरोप किया जाता है और निषेधवाचक शब्द नहीं रक्खा जाता (११, ३७, ५८ इ०)। इसके दो भेद होते हैं। तद्रूप (उपमान को उपमेय-रूप कहना) और अभेद (उपमान को उपमेय का रूप ही मान लेना)।

जिस रूपक में उपमान के सब अंगों का आरोप उपमेय में किया जाता है उसे सांगरूपक कहते हैं।

जिस रूपक में एक अंतर्गत रूपक होता है जिस पर वह रूपक निर्भर हो उसे परम्परित रूपक कहते हैं।

लेश—इसमें दोष से गुण वा गुण से दोष का अर्थ लेते हैं (१२४, १२६)।

लोकोक्ति—इसमें किसी कहावत इत्यादि का उल्लेख होता है (१४६, २१५, २२४)।

वक्रोक्ति—यह शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों हो सकता है। इसमें श्लेष होने के कारण अर्थ दूसरा हो जाता है (२२, १८७) या कंठ-ध्वनि से दूसरा अर्थ समझ लिया जाता है। इस दूसरे प्रकार की वक्रोक्ति को काकवक्रोक्ति कहते हैं (२३, ८६ इ०)।

विचित्र—इसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए विपरीत उपाय किया जाता है (१३०)।

वीप्सा—यह शब्दालंकार है। इसमें आश्चर्य, सम्मान, घृणा इत्यादि प्रकट करने के लिए एक शब्द का कई बार प्रयोग किया जाता है (१२७, १३७ इ०)।

विभावना—इसमें कारणसम्बन्धी कोई विचित्र कल्पना की जाती है (४, ६, ७८ इ०)। इसके छः भेद होते हैं (१) बिना कारण ही के कार्य की उत्पत्ति होना (२) अपूर्ण कारण से कार्य हो जाना (३) प्रतिबंध होते हुए भी कार्य की सिद्धि हो जाना (४) ऐसे कारण से कार्य की उत्पत्ति होना जो उस कार्य का कारण नहीं हुआ करता (५) विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति होना (६) कार्य ही से कारण की उत्पत्ति होना।

विरोधाभास—इसमें विरोधी वस्तुओं का वर्णन होता है। विरोध केवल आभास-मात्र रहता है (२०, ७४, ८२ इ०)।

विशेष—इसमें स्थिति, सिद्धि या उपस्थिति का विशेष रूप से वर्णन होता है।

विशेषोक्ति—इसमें कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता (२१, २२, ६१ इ०)। इसके दो भेद होते हैं। उक्तगुण जिसमें कार्य न होने का कारण बतलाया जाय, अनुक्तगुण जिसमें वह न बतलाया जाय।

विषम—इसमें भिन्न या अनमिल वस्तुओं इत्यादि का वर्णन होता है, कारण एक ओर फल बिलकुल भिन्न दिखलाया जाता है (६४, २२३)।

व्यतिरेक—इसमें उपमेय में उपमान की अपेक्षा कोई अधिक गुण होता है (३५, ४१ इ०)।

व्याजनिंदा—इसमें प्रशंसा के बहाने निंदा की जाती है।

व्याजस्तुति—इसमें निंदा के बहाने स्तुति या प्रशंसा की जाती है (४४, ७४ इ०)।

श्लेष—यह शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों हो सकता है। इसमें एक शब्द के दो या अधिक अर्थ होते हैं (२८, ३२)।

संदेह—इसमें एक वस्तु को देखकर संदेह लगा रहता है कि यह कौन सी वस्तु है (१३१, १३७)।

संभावना—इसमें एक बात के होने पर दूसरी बात का होना कहा जाता है (५४, ६८, १७७)।

सम—इसमें समान वस्तुओं का वर्णन होता है। कारण के अनुकूल फल दिखलाया जाता है (१६५, २२०)।

समासोक्ति—इसमें एक दूसरा अर्थ भी झलकता है (११७)।

सांगरूपक—दे० रूपक।

सामान्य—इसमें दो वस्तुओं में भेद न जान पड़ने का वर्णन होता है (१११, १३२)।

सूक्ष्म—इसमें किसी सूक्ष्म कृति अर्थात् चेष्टा इत्यादि का उत्तर चेष्टा ही इत्यादि से दे दिया जाता है (७६)।

स्मरण—इसमें किसी वस्तु के देखने इत्यादि से किसी विशेष वस्तु की सुधि आ जाती है (६)।

स्वभावोक्ति—इसमें स्वभाव, जाति, अवस्था इत्यादि का स्वाभाविक वर्णन होता है (२, ६६, ८०, १५४ इ०)।

हेतु—इसमें या तो कारण और कार्य को एक ही साथ कहते हैं या कारण ही को कार्य-रूप बतलाते हैं (१३६, २१३)।

शब्द-सूची

[इन शब्दों का सामने की संख्या के दोहों में अर्थ दिया हुआ है]

शब्द	दोहा-संख्या
निसक	... १६०
निहचय	... १२६
निहचल	... ५०
नीठि	... ५२
नै	... ६२
पखान	... ११६
पगारु	... १०५
पँचतोरिया	... २१
पंचाली	... १४७
पय	... १०५
पयोधि	... १७८
पराग	... १७०
परिपारि	... १६२
परिमल	... १३३
परेई	... १७३
परेखा	... १६३
परै	... ७६
पाइल	... १७६
पायंदाज	... २६
पावक	... १६०
पावस	... १६०
पीठ देकर	... २०७
पुहुमि	... १७३
पून्यो	... ५१
पोत	... १८२
पौरि	... ६१
प्रजारति	१३४
प्रतिबिंब	... ४, १६८
प्रयाग	... ३
प्रानेस	... १६०
बंकबिकारी	... ३३
बटपरा	... १२
बढ़ाए	... १४
बदना	... ५४
बर	... ३८
बरजोर	... १२
बरिया	... २०६
बरुनी	... १४०
बहकना	... १७२
बातनु	... ४०
बानक	... २
बाम	... ७६, १२२
बामा	... १६०
बाड़	... १२५, १६४
बिकट	... २०६
बिछिया	... २५
बिजना	... १२५
बित	... १७७
बिभावरी	... १६२
बिय	... ११६